कल्याण

अङ्क ५

वर्ष २३

भगवान

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, मई सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य
भारतमें ६=)
विदेशमें ८॥=)
(१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।=)
विदेशमें ॥-)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

सब भूतोंमें आत्मा और आत्मामें सब भूत
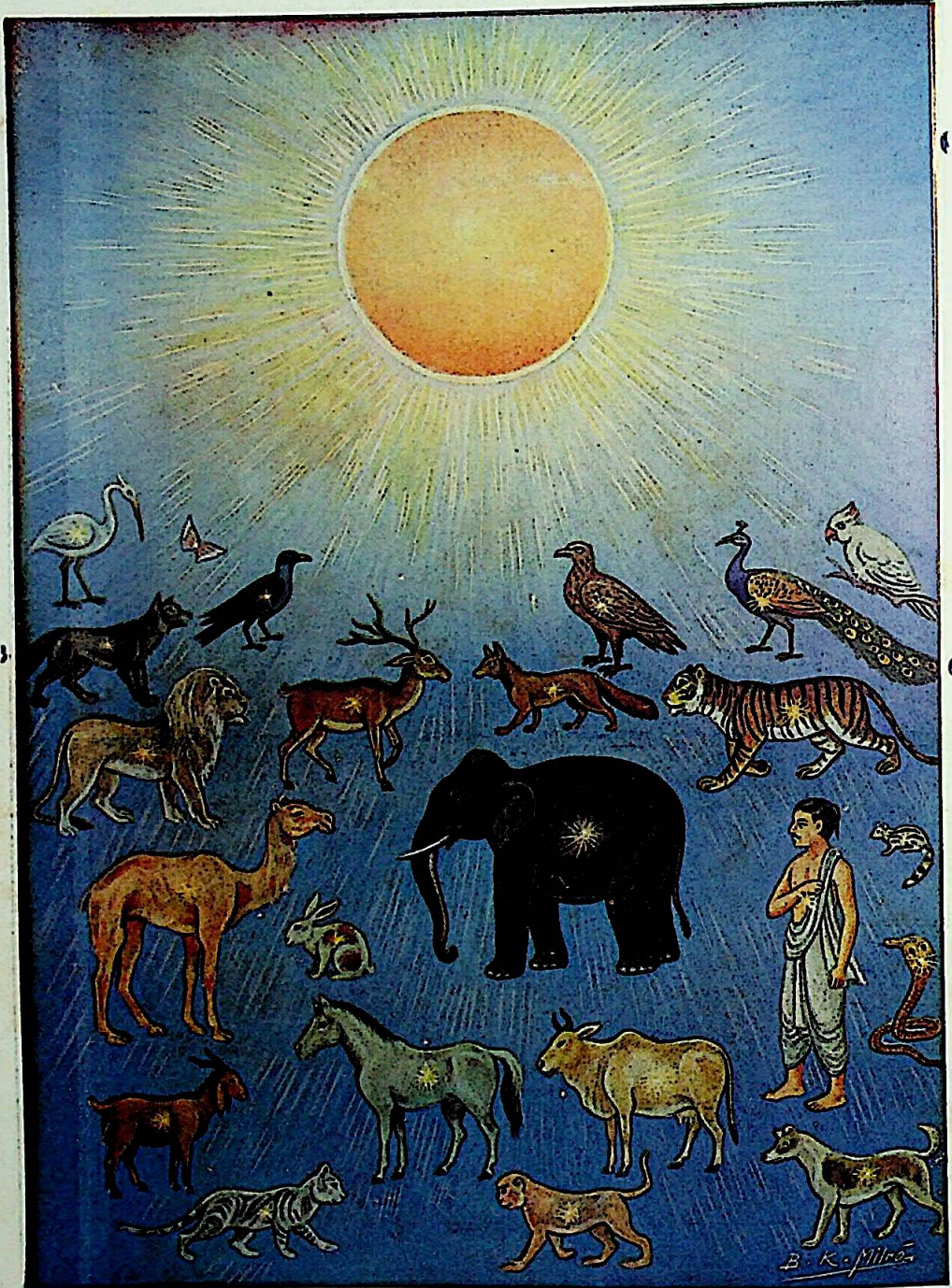
आत्मा सब भूतोंमें स्थित, सब भूतोंकी आत्मामें सृष्टि।
योगयुक्त सबमें समदर्शी ज्ञानी जनकी है यह दृष्टि॥ (गीता ६ । २९)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
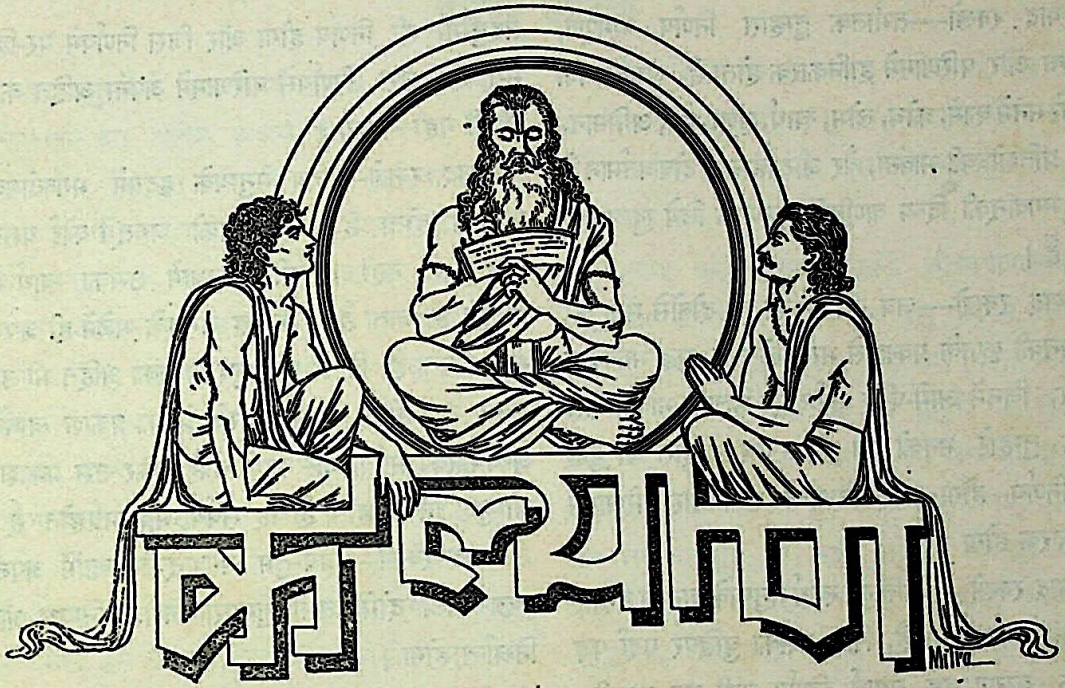
वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २००६, मई १९४९ { संख्या ५ पूर्ण संख्या २७०

सब प्राणियोंमें आत्मा और आत्मामें सब प्राणी

सब तन चेतन-अंस समान ।
ज्यौं नभमें प्रभटत घन-मंडल घनमें व्योम-वितान ॥
जलमें उठत तरंग, तरंगनमें जलरासि अमान ।
तैसइ विभु आत्मामें राजत जेते जीव जहान ॥
सब जीवनमें सो प्रकासमय आत्मा एक महान ।
योग-युक्त सबमें समदरसी ज्ञानीको यह ज्ञान ॥

'राम'

याद रक्खो—तभीतक तुम्हारा निर्णय भ्रमपूर्ण, संदिग्ध और परिणाममें हानिकारक होता है, जबतक कि तुम्हारे मनमें काम, क्रोध, लोभ, स्वार्थ, घृणा, द्वेष, अभिमान, भय, प्रतिशोधकी भावना, वैर और हिंसादि दोष वर्तमान हैं और भगवान्‌की दिव्य वाणीकी स्फुरणाके लिये खुला मार्ग नहीं है।

याद रक्खो—जब तुम मनको इन दोषोंसे मुक्त कर भगवान्‌की कृपाके प्रकाशसे भर लोगे और शुद्ध भगवदीय विचार, जिनमें आगे-पीछे सर्वत्र पर-हितकी भावना भरी होगी, तुम्हारे मनको छा लेंगे, तब तुम्हारा जो कुछ भी निर्णय होगा, वह निर्भ्रान्त सत्य और परिणाममें हितकारक होगा।

याद रक्खो—व्यक्तिगत स्वार्थ मनुष्यके ज्ञानको हरकर उसे अंधा बना देता है, फिर, उसकी बुद्धिपर पर्दा पड़ जानेके कारण वह यथार्थ निर्णय नहीं कर सकती। जो बुद्धि स्वार्थसे ढकी नहीं होती, उसीके द्वारा भगवान्‌के ज्ञानका प्रकाश होता है।

याद रक्खो—जिस हृदयमें नित्य-निरन्तर भगवान् विराजित रहते हैं, उस हृदयमें दैवीसम्पत्तिके गुण,—त्याग, क्षमा, वैराग्य, निःस्वार्थभाव, प्रेम, सुहृदता, विनय, निर्भयता, सहिष्णुता, स्नेह और अहिंसा आदि—स्वाभाविक ही रहते हैं और वहींसे भगवान्‌की दिव्य वाणी स्फुरित हुआ करती है।

याद रक्खो—जब तुम्हारा मन भगवदीय सत्यको प्राप्त करनेके लिये उत्सुक तथा उन्मुक्त होगा, तब उसमें स्वयं ही उस सत्यका प्रकाश होगा और तब जो कुछ निर्णय होगा, वह सत्य ही होगा।

याद रक्खो—जब तुम्हारे हृदयमें दूसरोंका हित ही अपने हितके रूपमें प्रकट होगा, तब उसमें स्वाभाविक वही विचार आवेंगे जो पर-हितकारक होंगे और तदनुसार ही निर्णय होगा और जिस निर्णयमें पर-हित भरा है, उस निर्णयसे परिणाममें अपना अहित कभी हो ही नहीं सकता।

याद रक्खो—जब मनुष्यके हृदयमें भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव होता है, तब उसको जगत्‌में कोई पराया दीखता ही नहीं। ऐसी अवस्थामें उसका स्वार्थ भी विस्तृत हो जाता है। फिर वह जगत्‌के भलेमें ही अपना भला देखता है, किसी एक क्षुद्र प्राणीका अहित भी उसे सहन नहीं होता। इस प्रकारके प्रेमका प्रकाश स्वार्थके अन्धकारको सर्वथा नष्ट कर देता है। फिर उस प्रकाशमें जो कुछ निर्णय होता है वह सर्वथा मङ्गलमय होता है।

याद रक्खो—जब तुम भगवान्‌की इच्छामें अपनी इच्छा मिला दोगे, तभी तुम्हारा निर्णय निष्पक्ष और निर्भ्रान्त होगा।

याद रक्खो—भगवान्‌की इच्छासे विरुद्ध इच्छा रखनेवालेकी इच्छा कभी सफल तो होती ही नहीं, पद-पदपर उसे असफलता, निराशा और वेदनाका सामना करना पड़ता है। उसका प्रत्येक निश्चय, प्रत्येक विचार भ्रान्त और परिणाममें पीड़ादायक होता है तथा उसका जीवन नित्य अशान्तिमें ही बीतता है।

याद रक्खो—तुम यदि अपनेको भगवान्‌के प्रति सौंप देते हो, अपनी इच्छाओंको भगवान्‌की इच्छामें मिला देते हो एवं अपने ज्ञान और बलको भगवान्‌के ज्ञान और बलका अंश मान लेते हो तो निश्चय समझो फिर तुम भगवान्‌की मङ्गलमयी इच्छासे मङ्गलमय बनकर, भगवान्‌के नित्य सत्य ज्ञान और अचिन्त्य अपरिमित बलसे सुरक्षित होकर केवल अपना ही कल्याण नहीं करोगे; तुम्हारा प्रत्येक विचार, तुम्हारा प्रत्येक निश्चय और तुम्हारी प्रत्येक क्रिया अखिल जगत्‌का मङ्गल करनेवाली होगी।

'शिव'

प्रभुका आदेश

सब मनुष्योंको सब समय प्रभुकी ओरसे अपने अन्तरात्मामें यह आदेश अवश्य मिलता रहता है कि 'ऐसे करो', 'ऐसे मत करो' किंतु हम अधिकांश ऐसे हैं जो उनके आदेशको सुन नहीं पाते। यदि कहीं कोई सुनता भी है, तो वह उपेक्षा करता है। इसका निश्चित परिणाम यह होता है कि हम जहाँ जिस क्षेत्रमें जाते हैं, वहाँ ही हमें उलझन मिलती है। अपनेसे आगे बढ़े हुएको देखकर हम जल उठते हैं। अपनी जलनको शान्त करनेके लिये उसकी कटु आलोचना आरम्भ करते हैं और जलन उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अपने अतिरिक्त अन्य सभी हमें भूले हुए दिखायी देते हैं, सबको सुधारनेका सारी बुराइयोंको एक साथ दूर-कर देनेका हम ठेका ले बैठते हैं। विरोधीकी एक बात भी सुननेके लिये हम तैयार नहीं, अपनी-अपनी ही हमें सुनानी रहती है। अपना मैल धोनेके लिये हमारे पास अवकाश नहीं बच रहता। धोना दूर, हम भी गंदे हो सकते हैं, यह सोचने-विचारनेतकका अवकाश नहीं; वस्तुतः मैलसे हम चिपटे होते हैं, पर स्वप्न देखने लगते हैं स्वर्गीय जीवनका। प्रभुकी ओरसे आयी हुई प्रेरणाको, उनके दिये हुए स्नेहभरे आदेशको न सुननेका, सुनकर उपेक्षा कर देनेका यह स्वाभाविक परिणाम है! तथा ऐसी भावना, ऐसी प्रवृत्ति जितनी अधिक बढ़ती है, उतनी ही मात्रामें हम उत्तरोत्तर उनकी मंगल-प्रेरणाको ग्रहण करनेमें अयोग्य बनते जाते हैं। उनकी आवाज और हमारे ज्ञानके बीचमें व्यवधान घना होता जाता है। कुत्सित भावना, उनसे कुत्सित प्रवृत्ति, फिर उनसे कुत्सित संस्कार—इनकी क्रमशः मोटी-मोटी दीवालें बनती जाती हैं और इसी क्रमसे धीरे-धीरे प्रभुकी ओरसे आयी हुई सूचना क्षीण, क्षीणतर होती हुई अन्तमें वह ऐसी बन जाती है मानो लुप्त हो गयी; है ही नहीं, थी ही नहीं। आदेश तो उस समय भी आता ही रहता है, पर हमारा मन उसे ग्रहण करनेमें सर्वथा अयोग्य हो जाता है, इसलिये वह आदेश सुन नहीं पड़ता।

कल्पना करें, हमारे सामने जीवनयात्रासम्बन्धी कोई प्रश्न उपस्थित हुआ। अब इस विषयमें कौन-सी व्यवस्था सबसे सुन्दर होगी, हमें क्या करना चाहिये, हम क्या करें—ये सभी बातें हमें प्रभुकी ओरसे प्राप्त होती हैं, उनका निश्चित आदेश इस सम्बन्धमें हममेंसे प्रत्येकको अवश्य मिलता है, पर हम सुन नहीं पाते। और तबतक सुन भी नहीं पायेंगे, जबतक अपने अंदर बार-बार पद-पदपर व्यक्त होनेवाली व्यक्तिगत अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा कुचलकर हम प्रभुकी आवाज, प्रभुके आदेशको वास्तवमें सुननेके लिये तैयार न हो जायँगे। हमारे सामने तो जब कोई भी समस्या आती है तो हमारा अहङ्कार सामने आ जाता है, और एकके बाद एक अनेकों युक्ति बतलाने लगता है—यह करो, वह करो। हम सोचते हैं, ऐसा करके हम सफल हो जायँगे, सुखी हो जायँगे। क्षणभरके लिये भी हमारे अंदर यह विचारतक नहीं उदय होता कि यह कार्य, यह ढंग प्रभुके आदेशका अनुगामी है या नहीं। मन अगणित—असंख्य संस्कारोंसे, वासनाओंसे भरा होता है। वर्तमानका वातावरण अनुरूप संस्कारोंको प्रभावित करता रहता है। वे जाग उठते हैं तथा उन्हींके अनुरूप हम अपना कार्यक्रम स्थिर करते हैं, समस्याएँ हल करने चलते हैं। संयोगसे हमारे कुछ कार्यक्रम, कुछ सुझाव प्रभुके आदेशके अनुकूल भले हो जायँ, पर अधिकांश विपरीत होते हैं। विपरीत होनेका ही यह प्रमाण है कि आगे बढ़ते ही हम उलझन, ईर्ष्या, परनिन्दा, अहम्मन्यता, असहिष्णुता, मलिनता, अज्ञान—इनसे घिर

जाते हैं। यही आजके जगत्में हो रहा है; हम सोच-कर देखेंगे तो प्रायः सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें, कहीं कम तो कहीं अधिक, यही स्पष्ट देख पायेंगे !

यह ठीक है कि अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा शान्त कर देना सहज नहीं और यह हुए बिना प्रभुके सङ्केतको भी स्पष्ट सुन लेना संभव नहीं। पर इस दिशामें हमारा प्रयत्न भी तो हो। उनकी ओरसे आयी हुई प्रेरणाको ग्रहण करनेके लिये हमारा मन न्मुख तो हो। हम अपनी प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें उनकी ओर मुड़ें तो सही। हमारी इच्छा तो हो। उनके आदेशका अनुसरण करनेका निश्चय तो हमारी बुद्धिमें हो जाय। फिर तो उनकी ओरसे कुछ-न-कुछ, नहीं-नहीं पर्याप्त प्रकाश मिलेगा ही। एक बार हम अपने सञ्चित संस्कारोंके प्रवाह (स्फुरणा) को रोक दें, मनको खाली कर दें; न खाली कर सकें, बरबस स्फुरणाएँ उठती ही रहें तो फिर प्रभुसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारोंको, भावोंको मनमें भरना आरम्भ कर दें, प्रभुके स्मरणसे चित्तको पूरित करने लग जायँ। इससे यह होगा कि अहङ्कार रहनेपर भी चित्तमें प्रभुके दिव्य संदेशका स्पन्दन आरम्भ हो जायगा। कदाचित् अपने एवं प्रभुके बीचमें स्थित आवरणकी घनताके कारण हमें उस स्पन्दनकी अनुभूति न हो अथवा इतनी अस्पष्ट हो कि हम ठीक-ठीक उसे समझ न पावें, प्रभु क्या चाहते हैं, उनकी क्या आज्ञा है, यह स्पष्ट निर्णय हम नहीं कर पायें, तो भी हमारा काम तो हो ही जायगा। वह इस रूपमें कि हमारे अनजानमें ही हमारे चित्तकी, बुद्धिकी, इन्द्रियोंकी गति उसी ओर हो जायगी जिस ओर प्रभु हमें ले जाना चाहते थे। तथा उस ओर गति होनेपर उलझन हमारे लिये नहीं रहेगी, हम क्या करें, क्या नहीं करें यह उधेड़बुन नहीं रहेगी। अपने-आप स्वाभाविक ही हम, जिस ओरसे हटना चाहिये, हट जायँगे, जिधर चलते रहना चाहिये, चलते रहेंगे। ईर्ष्याकी आग फिर हमें नहीं जलायेगी, 'हाय रे, हमने इतना ही कमाया, उसने इतने कमा लिये; हमारी पूछ नहीं, उसको सभी आदर देते हैं, हम पीछे रह गये, वह आगे बढ़ गया, वह गिर क्यों नहीं पड़ता'—ये कलुषित भावनाएँ हमें छू नहीं सकेंगी। दूसरेके दोषोंकी आलोचना कर अपना मन गंदा करनेकी प्रवृत्ति हममें नहीं होगी। 'हम ठीक हैं अन्य सभी भ्रान्त हैं'—यह गर्व हमारे अंदर नहीं आयेगा। सबको निर्मल कर देनेका बीड़ा हम कदापि नहीं उठायेंगे। अपने विपक्षीकी बातका भी हम यथायोग्य आदर करेंगे। अपने अंदरका छोटे-से-छोटा दोष भी सामने आने लगेगा। उसे धोनेमें ही हम इतना व्यस्त हो जायँगे कि दूसरोंमें कहीं मैल है भी, यह स्मृति लुप्त हो जायगी। अपनी स्थितिके सम्बन्धमें हमें भ्रान्ति नहीं होगी, वास्तवमें हम जहाँ हैं, उसका ज्ञान हमें बना रहेगा; भूलकर भी हम हवाई किलेमें राजा बनकर सैर करने न जायँगे; मलिनतासे भरे रहनेपर भी देवता, महात्मा होनेका भ्रम हमारे अंदर कभी नहीं आयेगा। प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें—चाहे वह कितनी भी नगण्य-सी चेष्टा क्यों न हो—प्रभुकी प्रेरणा, इच्छा, आदेशके साँचेमें हमारी बुद्धि मन इन्द्रियोंके ढल जानेपर ये बातें हममें निश्चितरूपसे होंगी ही। ये नहीं हों, इनसे विपरीत हो तो समझ लेना चाहिये कि हमारी चेष्टा प्रभुकी प्रेरणासे परिचालित नहीं है; अपितु हम अहङ्कार-की आवाजसे नियन्त्रित होकर पीछेकी ओर, नीचे गिरते जा रहे हैं। जितनी शीघ्रतासे हम चेतेंगे, उतना ही अधिक हमारा एवं जगत्का लाभ होगा। जितनी अधिक देर लगेगी उतनी ही अधिक मात्रामें हमारा एवं जगत्के ध्वंसका मार्ग प्रशस्त होगा।

किंतु अभी हमारी दशा तो यह है—

मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।

अत्यन्त कठिन मार्गसे हम चल रहे हैं, पासमें पथके लिये पाथेय (राहखर्च) भी नहीं है और सबसे बड़े मजेकी बात तो यह है कि हमें जिस गाँवमें जाना है, उसका नामतक हम भूल गये हैं। मार्ग कठिन इसलिये कि हमारे चारों ओर विषयोंके झाड़-झंखाड़ पर्वत, वन भरे पड़े हैं, क्षण-क्षणमें हम रास्ता भूल रहे हैं। प्रभुकी स्मृतिरूपी पाथेय भी नहीं, जो हमारे श्रान्त मन, इन्द्रिय, प्राणोंमें पुनः-पुनः नवशक्तिका सञ्चार करता रहे। और सबसे अधिक चिन्ताकी बात तो यह है कि हम मानव-जीवनके उद्देश्यको ही भूल गये हैं। प्रभुकी प्राप्ति ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है, वहीं हमें जाना है, हमें इस बातकी ही विस्मृति हो गयी है। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक कार्यका आरम्भ करते समय प्रभुका संकेत ग्रहण करनेकी वृत्ति हमारे अंदर जाग उठे, हम उसके लिये प्रयास करें, यह सम्भावना कहाँ ? हाँ, किसी अनिर्वचनीय सौभाग्य-वश यदि दुःखोंसे छूटनेके लिये भी हम प्रभुको पुकार सकें, सच्चे सरल हृदयसे अपनी यह विनय सुना सकें,—'नाथ ! अब तुम्हीं आगे ले चलो'—

तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे।

—ऐसी सच्ची भावना दुःखके समय ही हमारे अंदर जाग उठे तो भी जीवनके अन्ततक हम कृतार्थ हो जायँ। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं। दुःखमें की हुई प्रत्येक पुकार हमारे एवं प्रभुके बीचमें स्थित परदेको क्रमशः फाड़ती ही जायगी। प्रभुके साथ किया हुआ क्षणभरका सम्बन्ध भी हमारे मन, प्राण एवं इन्द्रियोंमें अपनी छाप—स्थायी प्रभाव छोड़ जायगा। किसी दिन प्रबल दुःखको निमित्त बनाकर प्रभुको पुकारते समय कोई ऐसा भरपूर धक्का लगेगा कि आवरण छिन्न-भिन्न हो जायगा। उसीके साथ हमारे अहङ्कारकी आवाज भी शान्त हो जायगी, और तब वास्तवमें हम प्रभुका आदेश अत्यन्त स्पष्टरूपसे सुननेमें समर्थ हो सकेंगे। उस समय हमारा जीवन कुछ और ही होगा।

परवशता

(रचयिता—सम्मान्य पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

कोई ऐसा पाप नहीं है,
जो करने से बचा हुआ हो,
फिर भी हम करते रहते हैं।

कोई ऐसा झूठ नहीं है,
जो कहने से शेष रहा हो,
फिर भी हम कहते रहते हैं।

कोई ऐसी गाँठ नहीं है,
जो अबतक बाँधी न गई हो,
फिर भी हम बाँधा करते हैं।

कोई निंदा रह न गई है,
जो मुँह मुँह से बँट न चुकी हो,
फिर भी हम बाँटा करते हैं।

कोई ऐसा कष्ट नहीं है,
जो अबतक भोगा न गया हो,
फिर भी हम भोगा करते हैं।

कोई ऐसी मौत नहीं है,
जो जीवन में बदल चुकी हो,
फिर भी हम मरते मरते हैं।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३१)

स्वर्गीय देवोंकी श्रवणशक्ति लुप्त हो गयी थी । नागलोकके प्राणी भी वधिर प्रायः हो गये थे । तथा दिङ्नाग प्रकम्पित हो रहे थे । क्षणभरके लिये समस्त ब्रह्माण्डमें उसके अतिरिक्त अन्य कोई शब्द अवशिष्ट नहीं रहा था । ऐसी एक साथ शतसहस्र प्रलयङ्कर वज्रपातकी-सी वह प्रचण्ड ध्वनि अर्जुनवृक्षोंके धराशायी होनेपर हुई थी। किंतु अघटनघटनापटीयसी योगमायाने उस ध्वनिको व्रजपुरके धरातलपर तो तबतक प्रकट नहीं होने दिया, जबतक कुवेरतनय नलकूबर-मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्र-का स्तवन कर चले नहीं गये । स्तुतिके समय कितने क्षण, कितने दिन, कितने मास, कितने वर्ष, कितने युग बीते थे, यह कल्पना प्राकृत मनमें समा नहीं सकती पर जितना भी समय लगा हो, उतने कालतक तो व्रजपुर निश्चितरूपसे नीरव था । अवश्य ही गृहकार्यमें संलग्न गोपसुन्दरियोंकी एवं व्रजराजमहिषीकी कङ्कण-झङ्कृति, नूपुर-रव रह-रहकर उस नीरवताको भंग कर देते थे । पक्षियोंका कलरव, भ्रमरका गुञ्जन तो इनमें स्थायी स्वरकी भाँति समा गया था । पर ज्यों ही कुवेरपुत्र दृष्टिपथसे ओझल हुए कि बस, समस्त व्रजपुर भी उस प्रचण्ड ध्वनिसे काँप उठा । गोवर्द्धनपरिसर, परिसरकी समलङ्कृत यज्ञभूमि ऐसी हिल गयी मानो भूकम्प हुआ हो । गोपोंके, गोपरामाओंके अङ्ग ऐसे नाचने लगे, मानो सहसा सबके अङ्गोंमें कम्पवायुका प्रकोप हो गया हो—

तरु टूटत चरके झरमर झरके फिरि भरभरके भूमि परे ।
धर थलथल धरके लोग नगरके थरथर थरके चौंकि परे ॥
तहँ उर सब नरके इमि खरखरके जनु घनतरके झरप तहाँ ।
जे गिरत न सरके ग्रह सब बरके को कहि हरिके गुननि महाँ ॥

व्रजेश्वरीकी भी यही दशा है । साथ ही उन्हें ऊखलमें बँधे अपने नीलमणिकी स्मृति हो आयी है । श्रीकृष्णचन्द्रका उन्हें विस्मरण हो गया हो, यह बात नहीं । केवल अभी कुछ देर पहले लीलाशक्तिने उनके एवं नीलमणिके बीचमें अपना आँचल फैला रक्खा था, उसकी ओटमें मैया अपने जीवनधनको देखकर भी अच्छी तरह नहीं देख पा रही थीं । पर अब अञ्चल हट चुका था, उसकी आवश्यकता नहीं रही थी । इसीलिये मैयाको मानो वहींसे, कक्षकी मणिभित्तिका व्यवधान रहनेपर भी नीलमणिके स्पष्ट दर्शन होने लगे हैं । मैया उस समय भी अपने नीलमणिको खिलानेके लिये दधिमन्थन ही कर रही थीं, पर अब अवकाश कहाँ ! तृणावर्तके समय भी ऐसी-सी ही ध्वनि हुई थी यह संस्कार जागनेमें देर थोड़े लगी । मैया मन्थनदण्डको फेंककर विद्युद्गतिसे वहाँ उस स्थानपर जा पहुँचती हैं जहाँ वे अपने नीलमणिको ऊखलसे बाँध गयी थीं । वहाँ तो कोई है ही नहीं । हाँ, उससे कुछ ही दूरपर वे गोपशिशु कोलाहल कर रहे हैं, और वे प्रकाण्ड यमलार्जुनवृक्ष धराशायी पड़े हैं—यह मैयाको दीख गया । 'आह ! मेरा नीलमणि कहाँ है ?'—मैया इतना ही सोच पायीं । फिर तो अङ्गोंमें रक्तसञ्चार स्थगित हो गया । उस समय उनके प्राण कहाँ थे ? धमनियोंमें रक्तका प्रवाह न रहनेपर भी वे निस्पन्द प्रस्तर प्रतिमाकी भाँति ज्यों-की-त्यों खड़ी कैसे रहीं ?—इनका समाधान तो सम्भव नहीं, पर मैयाकी स्थिति इस समय ठीक ऐसी ही है ।

क्षणभर भी न लगा, व्रजपुरमें जितनी गोपसुन्दरियाँ थीं, सभी नन्दभवनमें आ पहुँचीं । उनकी तो बात क्या, वे निकट थीं, सुदूर गिरिराजके प्रान्तमें व्रजेश्वर थे, व्रजपुरका समस्त गोपसमुदाय था, वे सब-के-सब आ पहुँचे । उन सबको स्मृति है केवल एकमात्र श्रीकृष्ण-

चन्द्रकी । वृक्षपातके उस महागर्जनको सुनकर सब इतने भयभीत हो गये हैं, श्रीकृष्णचन्द्रकी अनिष्टाशङ्कासे उनका मन इतना अधिक भर गया है कि नन्दनन्दनके अतिरिक्त अन्य किसी भी वृत्तिके लिये वहाँ स्थान नहीं है । इस अवस्थामें वे आ पहुँचे हैं—

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् ।
तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । १)

श्रीकृष्णचन्द्रमें तन्मय हो जानेपर यहाँ भी, इस प्रपञ्चमें भी देश-कालका व्यवधान नहीं रहता । फिर यह तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी चिदानन्दमयी लीला, उनके नित्य चिदानन्दमय परिकर, उनकी चिन्मयी व्रजभूमिसे सम्बद्ध घटना है । यहाँ व्रजेश्वर व्रजगोप यदि गिरिराजकी सीमा, विस्तृत वनप्रदेश, व्रजपुरकी उत्तुङ्ग अट्टालिकाएँ लाँघकर क्षणभरमें वहाँ नन्दप्राङ्गणमें आ पहुँचे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? यहाँ तो लीलाके लिये ही चिन्मय देश-काल हैं । लीलामें आवश्यकतानुसार उनका विस्तार-सङ्कोच होता है । इस समय दोनोंकी आवश्यकता है । अतः नन्दव्रज एवं गिरिराजका मध्यवर्ती विशाल भूखण्ड तो सङ्कुचित हो गया । व्रजेश्वर, गोप ऐसे आ पहुँचे मानो द्वारपर ही थे, पर वह प्राङ्गण विस्तृत हो गया, इतने स्थानमें ही समस्त पुरवासी समा गये । अस्तु, आते ही सबकी दृष्टिमें भग्न यमलार्जुनवृक्ष तो आ गये, महागर्जन इन्हींका था, यह भी ध्यानमें आ गया, पर इतने प्रकाण्ड वृक्ष मूलसे उखड़कर गिर कैसे गये, इनके धराशायी होनेमें हेतु क्या है, इसे वे सर्वथा नहीं समझ पाये । सहसा ऐसी घटना घटित हो जानेका कोई कारण वे न ढूँढ़ सके । कारण न पाकर उनका चित्त भ्रान्त होने लगा—

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ ।
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । २)

अबतक उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन नहीं हुए हैं । अर्जुनतरुकी शाखाश्रेणी, पल्लवजालमें वे छिपे हैं । अवश्य ही गोपशिशुओंकी प्रसन्न, कौतुकपूर्ण मुद्रा देखकर उन्हें यह आश्वासन तो मिल जाता है कि नन्द-नन्दन सकुशल हैं । अर्जुनतरुको घेरकर वे आश्चर्यकी मुद्रामें खड़े हो जाते हैं । इतनेमें व्रजेश्वरको एक गोपशिशु अङ्गुलीसे वृक्षमूलकी ओर देखनेका सङ्केत करता है । व्रजेश किञ्चित् उस ओर आगे बढ़कर देखते हैं और देखकर दंग रह जाते हैं । उन्हें कल्पना नहीं थी कि अपने पुत्रकी ऐसी अद्भुत अनुपम झाँकी देखनेको मिलेगी । कटिप्रदेशमें पट्टडोरी बँधी है, डोरी ऊखलसे सन्नद्ध है तथा अपने जानु एवं करतलको पृथ्वीपर टेके वे ऊखलको खींच रहे हैं तथा नेत्रोंमें भय भरा है—यह दृश्य व्रजेश्वरके समक्ष आते ही न जाने कैसे सभी गोप-गोपसुन्दरियाँ भी एक साथ यह देख लेती हैं । वास्तवमें तरुके मूलोत्पाटनका हेतु उनके सामने आ जाता है, फिर भी वे समझ नहीं पाते । किस महाबल-वान्का यह कार्य है, किस हेतुसे उसने इन्हें उखाड़ फेंका—इसका कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे हैं । क्षण-क्षणमें उनका आश्चर्य बढ़ता जा रहा है । अधिकांश-का मन किसी महाबली दैत्यके उत्पातकी कल्पना कर व्याकुल होने लगता है—

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् ।
कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ३)

जो कुछ अधिक धैर्यशाली हैं, वे दैत्यकृत किस मायाका अनुसन्धान करने चलते हैं । पर वैसा कोई भी चिह्न उन्हें नहीं प्राप्त होता । दैत्य नहीं आया—यह धारणा तो पुष्ट होती है; किंतु—

विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना ।
विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमौ ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'झंझावात नहीं आया, वर्षा नहीं आयी, आकस्मिक वज्रपात भी नहीं हुआ है, यहाँ कोई मत्त गजेन्द्र भी नहीं आया कि जिसकी स्वच्छन्द चेष्टासे यह अनुचित घटना घटी हो, फिर इन युग्म अर्जुन वृक्षोंको गिराया तो किसने गिराया ?'

यह रहस्य वे न पा सके। उनकी विस्मयभरी आँखें गोपशिशुओंकी ओर केन्द्रित हो गयीं।

किंतु व्रजेश्वरका ध्यान अब इस ओर नहीं है। उनका अणु-अणु अपने इष्टदेव नारायणके प्रति कृतज्ञतासे पूर्ण हो रहा है। ऊखलमें बँधे पुत्रके अङ्गोंको अच्छी तरह टटोलकर उन्होंने देख लिया, अपना जी भर लिया कि कहीं कोई क्षत नहीं लगा और फिर तो उनका रोम-रोम पुकार रहा है—'नारायण ! देव ! प्रभो ! अशरणशरण ! दीनबन्धो ! नाथ ! तुम्हारी जय हो ! इस अयाचित अनुकम्पाकी जय हो !' व्रजेशका यह जय-जयकार अन्तस्तलमें ही सीमित नहीं रहा, वे उच्चस्वरसे श्रीनारायणदेवकी जय-घोषणा करने लगे।

इसी बीचमें दो शिशुओंने उनकी चादर खींचकर उनका ध्यान अपनी ओर खींचते हुए कहना आरम्भ किया—'बाबा ! सुनो ! हम बताते हैं, कन्हैयाने ही तो वृक्ष उखाड़े हैं, देखो, यह ऊखल खींचते हुए पहले भीतर चला गया, फिर इसने उसको तिरछा कर दिया और तब डोरी खींचने लगा। बस, वृक्ष टूट गये।' यह बात समाप्त होते-न-होते नन्दनपुत्र तोकने कहना आरम्भ किया—'इतना ही नहीं बाबा ! एक और खेल हुआ। इन दोनों वृक्षोंमेंसे दो पुरुष निकले, आगकी तरह जल रहे थे, वे बार-बार कन्हैया भैयाके चरणोंमें गिरते थे और बाबा ! वे दोनों बड़ी देरतक गीत गा रहे थे; रो भी रहे थे, और फिर कन्हैया भैयाने भी अपने हाथ नचा-नचाकर उनसे कुछ बातें कहीं और वे फिर चले गये।' सुबल भी बोल उठा—'बाबा ! हम सबोंने देखा है इन्हीं वृक्षोंमेंसे वे दोनों निकले, कन्हैयाके साथ बातें कीं और फिर उत्तरकी ओर चले गये।' इसके बाद उपनन्दसे, अन्यान्य वयस्क गोपोंसे, अपने पिता-पितृव्यसे सभी शिशु इसी घटनाको परम उल्लासमें भरकर बताने लगे—

बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम्।
विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ४)

यह कहते समय उन गोपशिशुओंके मुखपर तो भय अथवा आश्चर्यकी छाया भी नहीं है। वे परम सत्य तथ्य बतला रहे हैं, इस दृढ़ताके स्पष्ट चिह्न उनके मुखमण्डलपर अवश्य अङ्कित हैं। अतिशय उत्कण्ठासे सबने इनकी बात सुनी भी; किंतु किसी भी गोपको उनकी बातपर विश्वास जो नहीं होता। सुनते ही सभी एक ही निर्णय देते हैं—'यह तो कदापि सम्भव नहीं, छोटे-से नन्दनन्दनके द्वारा यह कार्य हो, इस शिशुके बलप्रयोगसे ये वृक्ष उत्पाटित हुए हों, यह भी कहीं विश्वासकी वस्तु है ? हो नहीं सकता, श्रीकृष्णके लिये यह असम्भव है।' केवल उन याज्ञिक ब्राह्मणोंको—जो गोपोंके साथ ही गिरिराजकी ओरसे दौड़कर आये थे—संदेह अवश्य होने लगा कि सम्भवतः गोपशिशुओंकी बात सत्य ही निकले। उनके ऐश्वर्यप्रवण चित्तमें स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त ऐश्वर्यकी चर्चाको टिकनेके लिये स्थान है, उससे पूर्व पूतना, शकट, तृणावर्त आदिका निधन, शिशु श्रीकृष्णके द्वारा अनेकों अघटनघटन होते ये भूदेव देख चुके हैं। गोपोंने, गोपसुन्दरियोंने भी देखे तो अवश्य हैं, पर उनके राग-रस-मसृण चित्तको श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य स्पर्श कर ले यह तो कभी सम्भव ही नहीं है। इसीलिये गोपोंने तो इसे तनिक भी स्वीकार नहीं किया, पर ब्राह्मण सन्दिग्धचित्त हो गये—

न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत्।
बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् सन्दिग्धचेतसः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५)

कुछ भी कारण हो व्रजेन्द्रके लिये अब यह सम्भव नहीं कि वे हेतु विचारनेमें समय लगा सकें। श्रीकृष्णचन्द्र-का परम सुन्दर पर भयमिश्रित मुखारविन्द उन्हें प्रबल वेगसे खींच रहा है—

तिन बिच हरि बैठे छवि-ऐना। डरपे मृग-सिसुके-से नैना ॥

वे उसी ओर झुक पड़ते हैं। डोरीमें बँधे ऊखलको खींचते हुए अपने पुत्रको अत्यन्त निकटसे निहारकर व्रजेश्वरका मन एक बार तो विषादसे भर जाता है—'आह! कहाँ ये सुकोमल अङ्ग और कहाँ यह डोरी, यह ऊखलका भार! व्रजेश्वरी! अविवेकसे तुम तो अंधी हो गयी।' पुत्रपर इस प्रकारका शासन किसने किया है, यह किसीसे पूछनेकी आवश्यकता व्रजेश्वरको नहीं है। उनके नेत्र छल-छल करने लगते हैं; किंतु अभी अवसर दूसरा है, व्रजेश्वर अपने-आपको संवरण कर लेते हैं, वेदना छिपाकर हँसने लग जाते हैं तथा अविलम्ब बायें हाथके सहारे श्रीकृष्णचन्द्रको वक्षःस्थलसे सटाकर दाहिने हाथके द्वारा बन्धन खोल देते हैं—

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ६)

श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बह रहा है। बन्धनमोचनके अनन्तर नहीं, तभीसे जब कि व्रजेश्वर बन्धन खोलनेके उद्देश्यसे उनकी ओर चले थे। व्रजेश्वर उन्हें गोदमें उठाकर उनके अश्रुसिक्त मुखपर घनघन चुम्बन अङ्कित करने लगते हैं। साथ ही उनका दुःखभार कम करनेके उद्देश्यसे सब कुछ जाननेपर भी अनजान बनकर सान्त्वनाके स्वरमें उनसे पूछते हैं—

पुत्र कुत्रत्यः स खलु खलबुद्धिर्येन चोलूखले निर्बन्धजनितबन्धस्त्वमसीति।

'बेटा! वह दुष्टबुद्धि प्राणी कहाँ रहता है, जिसने इतने आग्रहसे तुम्हें बाँधा?'

पिताके इस लाड़को पाकर श्रीकृष्णचन्द्र खिल उठते हैं। धीरेसे उनके कानमें कह देते हैं—'बाबा! यह तो मैयाका ही काम है (तात! मातैवेति)' किंतु बाबा युक्तिसे इस प्रसङ्गको बदल देते हैं। व्रजेश्वरको यह अनुमान है कि व्रजरानीके हृदयमें कितनी वेदना होगी। जिस क्षण व्रजेश्वरीकी प्राणशून्य-सी हुई दृष्टिके सामने महाराज नन्दने श्रीकृष्णचन्द्रको अपने क्रोडमें धारण किया, उसी समय यशोदारानीमें अपने-आप चेतनाका सञ्चार तो हो गया था; किंतु तुरंत दुःख एवं लज्जाके भारसे वे इतनी अधिक दब गयी थीं कि निकट जाकर पुत्रका मुख देखना तो दूर, सिर उठाकर उस ओर ताकनेकी क्षमता भी उनमें नहीं रही। विक्षिप्त-सी वे जहाँ थीं, वहीं बैठ गयीं। व्रजेश्वरने एक बार दृष्टि घुमाकर यशोदारानीकी ओर देख लिया था, वे सब कुछ समझ गये थे। उनके समीप जाना, पुत्रको सान्त्वना देनेके लिये, अपना दुःखभार हल्का करनेके लिये उनकी भर्त्सना करना—यह तो व्रजेश्वरीके वात्सल्यपूरित चित्तको छन-छनकर बींध देना है। व्रजेश्वर-जैसे परम गम्भीर, नारायणचरणकिङ्करके स्वभावको क्षोभ-प्रदर्शनका यह कठोररूप छू ले, यह तो असम्भव है। इसीलिये उन्होंने इस प्रसङ्गको टाल दिया।

अपने पुत्रको गोदमें लिये व्रजेश श्रीयमुनातटपर जा पहुँचे। स्वयं स्नान कर श्रीकृष्णचन्द्रको स्नान कराया, ब्राह्मणोंके द्वारा स्वस्तिवाचन आदि करवाये। फिर उन्हें अमित स्वर्णभार अर्पितकर अगणित गोदान करवाया। अन्तमें सब विप्र एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे पुत्रको नहलाकर घर लौटे। घर आकर पूर्वाह्णभोजनकी व्यवस्थामें लगे।

आज परिवेषणसम्बन्धी समस्त कार्य रोहिणीजीने

किये। व्रजेश्वरी तो एक कक्षमें अकेली बैठी आँसू ढाल रही हैं। सन्ध्या होनेको आयी। व्रजेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीरामको साथ लिये गोष्ठमें चले गये। अबतक व्रजरानीने अन्नका कण क्या, जलकी एक बूँद भी ग्रहण नहीं की है। गोष्ठसे लौटनेपर यह सूचना व्रजेश्वरको मिलती है। वे श्रीकृष्णचन्द्रसे पूछते हैं—

तात ! स्वमातरं यास्यसि ?

'मेरे लाल ! क्या जननीके निकट जाओगे ?'

इसके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्र रूठे स्वरमें बोले—

नहि नहि; किन्तु त्वामेव समया समयान् गमयिष्यामि।

'नहीं, अब तो, बाबा ! मैं तुम्हारे साथ ही रहकर समय बिताऊँगा।'

कुछ वृद्धा गोपियाँ हँसकर बोलीं—

स्तनं कस्य पास्यसि ?

'किसके स्तनका दूध पीओगे ?'

श्रीकृष्णचन्द्रने इस बार दोनों कपोलोंको फुलाकर कहा—

सितासम्भविष्णु धारोष्णं पयः पास्यामि।

'मिश्री मिला हुआ धारोष्ण गोदुग्ध पीऊँगा।'

गोपियाँ चिढ़ाती-सी बोलीं—

केन क्रीडिष्यसि ?

'खेलोगे किसके साथ ?'

श्रीकृष्णचन्द्रने व्रजेशकी ग्रीवामें अपनी नन्हीं भुजाएँ डाल दीं और बोले—

तातेनैव समं तथा भ्रातरमपि सङ्गं गमयिष्यामि।

'बाबाके साथ ही। और—और दाऊ भैयाको भी साथ ले लूँगा।'

व्रजेशके होठोंपर मुसकान छा गयी। वे धीरेसे बोले—

भ्रातुर्मातरं कथं नानुगच्छसि ?

'मेरे लाल ! दाऊ भैयाकी जननी रोहिणीजीके पास जानेमें क्या हानि है ?'

फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंमें रोष भर आता है। अस्वीकारकी मुद्रामें अपने मस्तकको सञ्चालित करते हुए वे कह उठते हैं—

मां विहायेयमपीयायेति। (श्रीगोपालचम्पूः)

'ऊँ हूँ। यह भी मुझे छोड़कर चली गयी थी !'

श्रीकृष्णचन्द्रकी उक्ति सुनकर रोहिणी मैयाके नेत्रोंमें जल भर आता है। अञ्चलसे अश्रुमार्जन करती हुई वे धीरेसे बोलीं—'मेरे लाल ! इतना कठोर तू क्यों हो गया ! देख ! तेरी माताको कितना दुःख हो रहा है !' किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने तो मानो इसे सुना ही नहीं, इस प्रकारकी मुद्रामें वे बाबाका मुख देखने लग जाते हैं। इस समय व्रजेश्वरके नेत्र छल-छल करने लगे हैं—

पुत्र ! कथं कठोरायसे ? माता तव दुःखायते। कृष्णस्तदेतदशृण्वन्निव सास्रं पितृमुखमीक्षते स्म॥

यशोदारानीकी चर्चा करते हुए कुछ क्षण व्रजेश्वरने और लाड़ लड़ाया। श्रीकृष्णचन्द्र उतने क्षणोंमें ही अपने बन्धन-दुःखको, जननीकृत अपमानको भूलने लगे। इतना ही नहीं, उनके नेत्र सजल हो गये। दूसरे ही क्षण मैयाकी अनुपस्थिति असह्य हो गयी। न जाने कितनी बातें एक साथ उनके मनमें आ जाती हैं। श्रीरोहिणी समीप ही खड़ी हैं, श्रीकृष्णचन्द्र शङ्कित होकर उनकी गोदमें चढ़ जाते हैं, 'री छोटी मैया ! मेरी मैया कहाँ है ? उसके पास ले चलो।' यही बार-बार व्याकुल कण्ठसे पुकारने लगते हैं—

कुत्र मे माता तत्र गम्यतामिति सशङ्कं रोहिण्यङ्कं गतवान्।

श्रीरोहिणी तुरंत यशोदारानीके पास चली आती हैं। नीलमणि, नीलमणिकी जननीके पास आ गये। पर जननीने तब जाना जब नीलमणिने उनकी ग्रीवाको अपनी भुजाओंमें वेष्टित कर लिया, उनके कण्ठहार बन गये,

जननीका चिबुक श्रीकृष्णचन्द्रके मस्तकका स्पर्श कर रहा है। जननीके अश्रुपूरित कण्ठसे अपने वत्सको लालन करती हुई गौके 'घों-घों'-जैसी ध्वनि हो रही है। नेत्रोंसे जलकी झड़ी लग रही है, उनका विगलित हृदय ही अश्रु बनकर बाहरकी ओर बह चला है। आह! व्रजेश्वरीका यह प्रेमिल भाव सबको रुला देता है, जितनी गोपसुन्दरियाँ खड़ी हैं, सबके नेत्र बरसने लगते हैं—

वत्समूर्ध्नि चिबुकं दधती सा
धेनुवद्गलितघर्घरशब्दा।
रोदनप्रथनया द्रवदात्मा-
रोदयत् परिकरानपि सर्वान्॥

आकाशमें नक्षत्रपंक्ति आ विराजी है। नीलमणिके ब्यारूका समय हो चुका है। मैया थाल सजाने उठ पड़ती हैं। क्षणोंमें वे कञ्चन थालको विविध पक्कान्नसे पूर्णकर अपने नीलमणिके सामने रख देती हैं, नीलमणि भोजन आरम्भ करते हैं—

आरोगत हैं श्रीगोपाल।
षटरस सौंज बनाइ जसोदा, रचिकै कंचन-थाल॥
करति बयारि निहारति हरि-मुख, चंचल नैन बिसाल।
जो भावे सौ माँगि लेहु तुम, माधुरि मधुर रसाल॥
जे दरसन सनकादिक दुर्लभ, ते देखति ब्रज-बाल।
सूरदास प्रभु कहति जसोदा, चिरजीवौ नँद-लाल॥

ईशोपनिषद्पर व्यावहारिक दृष्टि

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

यह उपनिषद् वेदका अङ्ग होनेसे बहुत ही गम्भीर विषयका प्रतिपादन करता है। आजकल जहाँ देखो, वहीं—'कपट कलेवर कलिमल भाँड़े। चलत कुपंथ बेद मग छाँड़े॥'—ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'वेद मग' के पास पहुँचानेके लिये इसी 'उपनिषद्' का ज्ञान साधारण भाषामें रखना समाजके लिये हितकर होगा। इसपर अबतक अनेक भाष्य हो चुके हैं। बहुतोंने निवृत्तिमार्गका अनुसरण करके ही इसका अर्थ किया है। इसमें द्वन्द्व शब्दोंका उपयोग देखकर मनको एक उलझन हो जाती है। जैसे त्याग और भोग, विद्या और अविद्या, मृत्यु और अमरता, सम्भूति और विनाश आदि।

जगत्में काम करते हुए सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा प्रकट की है और यह कहा गया है कि 'यह ज्ञान हमने धीर पुरुषोंसे पाया है।' इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि 'कलिमल भाँड़े' को 'वेद मग' पर लगानेके लिये 'धीर' (धिया संसारे रमन्ते) पुरुषोंका कर्तव्य है कि सामान्य भाषामें तत्त्वको स्पष्ट रीतिसे समझावें। अस्तु,

१—ब्रह्मकी स्फुरणासे जगत् है। वह सर्वोपरि है। इस भावनासे काम करनेमें मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है। भावनाहीन मनुष्य ही दुःखोंमें पड़ता है।

२—ब्रह्म नित्य सर्वगत होनेसे जगत्की बहुविध गतिमें रहते हुए भी स्थाणु, अचल और सनातन है। अनेकत्वमें 'एकत्वका भाव' धारण करनेसे पूर्ण जीवनकी प्राप्ति और दुःखोंकी समाप्ति है।

३—अणुमात्रमें ब्रह्म समाया है। इस भावनासे कर्म करते हुए विद्या (विद्-विद्यते) और अविद्या अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त दशाओंका सामञ्जस्य कर जगत्में ब्रह्म-स्थितिका अनुभव प्राप्त करना है।

४—परम सत्य तथा अमरत्वसे सम्बन्ध रखनेवाले सूर्य और अग्निको समझकर उनकी आराधना करना परम कर्तव्य है।

इन चार भावनाओंको मुख्य मानकर उपनिषद्का मनन करना ठीक है।

ईशा वास्यमिद९ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(वस्—रहना और वश् अधिकार करना) चलायमान जगत्में जो कुछ (जगत्—गतिशील) भी है, सबमें ईश्वरका निवास है या सबपर अधिकार है । इसलिये यदृच्छया प्राप्त वस्तुसे जीवननिर्वाह करो, पर किसीके या ब्रह्मके धनको भ्रष्ट मत करो । अनुचित ढंगसे पानेकी लालसा मत रक्खो ।

भाव यह है कि संसारमें प्रकृतिके पदार्थोंपर किसी-न-किसीका अधिकार है । इसलिये अपना अधिकार छोड़कर अपनी रकम देकर अन्यकी वस्तु लेकर उपभोग करो; परंतु किसीके धनकी लालसा न रक्खो । प्रकृतिके दिये हुए धनका सभी परस्पर भाव रखते हुए उपभोग करो और अनुचित ढंगसे भ्रष्ट मत करो । (waste not want not) धनको भ्रष्ट मत करो और तरसो मत । भ्रममें पड़े हुए व्यापारी स्वार्थवश प्रकृतिके दिये हुए पदार्थोंको संगृहीत कर सड़ा डालते हैं, पर साधारण मूल्य लेकर जनतामें यथासमय वितरण नहीं करते । जनता तरस-तरसकर भूखों मर जाती है । इस स्वार्थसे ही विषमता बढ़ती जाती है और संसारमें अंधेर, दम्भ, सन्ताप, मत्सर आदि बढ़ते जाते हैं ।

कूटार्थ—

इस चलायमान जगत्में सब जगह ईश्वरका निवास है, अतः तुम उसको भूलकर उपभोग मत करो; किंतु ब्रह्मके धनकी (आनन्दकी) ही लालसा रक्खो ।

दूरान्वयार्थ—

इस जगत्में यह सब ईश्वराधीन है, अतः अस्थिर धनका त्याग कर ब्रह्मधन (शाश्वत सुख) का उपभोग करो; किंतु उसे भ्रष्ट मत करो ।

व्यंग्यार्थ—

जगत्में जो कुछ है, सबका आधार ईश्वर ही है, इसलिये उसके द्वारा दिये हुए धनसे निर्वाह करो; किंतु अन्य किसीके धनपर डाह मत रक्खो—यथा यदृच्छासे वा स्वपरिश्रम-प्राप्त—'रूखा-सूखा खायके ठंडा पानी पी । देख परायी चोपरी (चुपड़ी रोटी) मत ललचावे जी ॥' शरीरगत दैवी शक्तिको आलस्यमें मत बाँधो, पर उसको मुक्तकर (शरीरसे यथोचित परिश्रम कर) परमात्माके धनका (प्रकृतिजनित पदार्थोंका) यथायोग्य उपभोग करते रहो और सौ वर्षोंकी आयु पाओ, परंतु अनुचित संग्रह कर नाश मत करो । स्वयं उपभोग करो और समयपर विनिमय करके अन्य जनोंको भी उपभोग करने दो । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत९ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इह, इसी जगत्में (ब्रह्म-स्फुरणाजनित चलायमान संसारमें) एवं ऊपर कही हुई रीतिसे काम करते हुए, पूर्ण आयु—सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा रक्खे । हे मनुष्य ! तेरे अधिकारमें इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

कर्म मनुष्यको भ्रष्ट नहीं करता (किंतु वह अपनी दुष्ट भावनासे भ्रष्ट होता है । ईश्वर ही सबका आधार है—ऐसी भावनासे काम करनेपर मनुष्य कर्मोंके झंझटोंमें नहीं फँसता; किंतु सब कामोंको ईश्वरकी सेवा मानकर आनन्दसे करता चला जाता है । यमक-व्यञ्जनासे यह भी भाव प्रकट किया है कि मनुष्य जब इस तरह सत्कर्मोंमें प्रवृत्त रहता है तब सहज ही वह अनिष्ट कर्मोंसे लिप्त नहीं हो सकता । सत्कर्मसे मनुष्य पूर्णायु भोगता और सुसंतानद्वारा अमर होता है । दुष्कर्म आयुको घटा देता है और दुःखोंका कारण बनता जाता है ।

'जाको प्रभु दारुन दुख देहीं । ताकी मति पहलेहि हरि लेहीं ॥'

अर्थात् जो अपनी मतिसे प्रभुका ध्यान छोड़कर काम करता है, वही दारुण दुःखका भागी होता है । इसलिये वेद-भगवान् कहते हैं—हे मनुष्यो ! इस प्रकार (प्रभुका ध्यान रखते हुए) कर्म करते रहो, पूर्ण आयु भोगो, सुखी रहो—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ता९स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

'असुर्या लोकों' से सूर्यरहित स्थानोंका या दानवोंके स्थानोंका अभिप्राय हो सकता है । वेदका भाव केवल दुःख-दायक स्थानोंसे है । आत्मा अविनाशी है—उसका हनन नहीं हो सकता । इसलिये 'आत्महनो'से आत्म (विवेक) हीनका आशय है । पूर्ण भाव यह है कि जो विवेकहीन पुरुष हैं, वे यहाँसे जाकर (जीवन-मरणके चक्रमें पड़कर) उन दुःख-दायक स्थानोंमें जाते हैं या उन अन्धकारमय स्थितियोंमें पहुँचते हैं, जहाँ चेतनता अत्यन्त सुप्त अवस्थामें रहती है । सूर्य ही प्राण-आधार है, वही सौर्य जगत्में प्राणोंका संचार करता है । जहाँ सूर्य नहीं पहुँचता, वहाँ प्राणका पहुँचना भी कठिन है । विवेकहीन मनुष्य जडयोनियोंमें गिरते जाते हैं ।

जहाँसे पुनः मनुष्य-योनिमें आनेके लिये लाखों वर्ष लग जाते हैं। आजकल अनेक पुरुष विवेकहीन हो स्वार्थमें पड़कर चोरीसे चोरबाजारमें प्रवेश करते हैं। इनके इन कलुषित कार्योंसे संसारमें डाहका साम्राज्य छा गया है और विषय-व्याधियोंका संचार तीव्रतासे हो रहा है। छिपकर रिश्वत देने और लेनेवाले लोग भी ऐसी अन्धकार (दुःख) मय स्थिति-के बनानेमें तीव्रतासे लगे हैं। व्यञ्जनासे भाव यह है कि सूर्य-के प्रकाशमें (प्रकट होकर) काम करो और विवेकयुक्त होकर सद्गति प्राप्त करो। कुपन्थ ग्रहणकर दुर्गतिमें मत पड़ो।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

'अपस्' का साधारण अर्थ पानी और कर्म है। पर वेदका भाव विश्वकी सात स्फूर्तियोंसे है, जो व्याहृतियाँ या लोक मान लिये गये हैं।

मातरिश्वाका साधारण अर्थ मामें (पृथ्वीमें) श्वास लेनेवाला है। वेदमें वायुदेवका नाम भी मातरिश्वा है। यहाँ प्राणतत्त्वसे अभिप्राय है जो जड़ जगत्में संचार कर नाना रूप धारण करता है।

परमात्मा अचल होकर भी मनसे अधिक वेगवान् है। देवता (प्रकृति व्यवहार-दक्ष शक्तियाँ) भी वहाँ नहीं पहुँचतीं; क्योंकि उनसे पहले ही वह वहाँ उपस्थित हो जाता है। वह स्थिर रहकर दौड़नेमें सबको हरा देता है। उसीमें वायुदेव (प्राण-संचारद्वारा) अपस् (सात स्फूर्तियोंको) स्थापित करते हैं। परमात्मामें सब समाये हुए हैं। उसीमें सब प्राणोंकी गति हो रही है। उससे परे कुछ नहीं है। वही सबमें व्याप्त होकर भी व्याप्यरूपमें शेष रह जाता है। यही कारण है कि वह स्थिर होकर भी सबके साथ गमन करता है और पहले ही उपस्थित हो जाता है। वही विश्वमें देवों और प्राणियोंका सर्वोपरि है। वह सर्वशक्तिमान् होनेसे सबका संचालन कर रहा है। जिस प्रकार स्थूल जगत्में सरकारी शासन सब ओर स्थित होकर सर्वोपरि है। उसकी दौड़के बराबर कोई नहीं दौड़ सकता; क्योंकि सब मनुष्योंके आकर पहुँचनेके पहले ही वह वहाँ उपस्थित है। स्पष्ट समझनेके लिये एक दृष्टान्त ले लो। सरकारका प्रतिनिधि बनकर तहसीलदार रहता है। मनुष्य जहाँ जायँगे, वहीं उसे अपने पदपर स्थिर ही पायँगे। तहसीलदार आदि देवता अपनी हलचल शासनसूत्रमें बँधकर अपने सीमित क्षेत्रमें किया करते हैं। इसी तरह प्राणतत्त्व (मातरिश्वा) भी सूत्रात्माके भीतर ही हलचल किया करते हैं।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

ब्रह्म व्यक्त स्वरूपमें गति करता है और अव्यक्त स्वरूपसे कूटस्थ रहता है। अतएव वह दूर भी है और पास भी है। वही सबके भीतर और बाहर भी है।

समुद्र तरङ्गरूपमें चञ्चल है, पर जलरूपमें स्थिर है; 'ज्वार' रूपमें पास आता है और 'भाटे' रूपमें दूर चला जाता है। चुम्बक छड़में दो ध्रुव (धन-ऋण) रहते हैं जो दूर ही होते हैं पर छड़के दो खण्ड करनेमें दोनों इतने समीप होते हैं कि प्रत्येक खण्ड स्वतन्त्र-रूपसे दोनों ध्रुवोंको लेकर चुम्बक छड़ बन जाते हैं। ये ध्रुव अव्यक्त स्थितिमें समीप हैं और छड़में व्यक्त स्थितिमें दूर हैं।* पञ्चतत्त्व ही अपने विचित्र मिश्रणसे पदार्थोंकी आन्तरिक रचना करते हैं और पदार्थोंको घेरे रहते हैं। प्राणीमात्र ब्रह्मसे वेष्टित हैं। वे उसीमें जीते और रहते हैं। ब्रह्म ही प्राणीमात्रके भीतर रहता और जीवनको स्थिर करता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जो सब भूतोंको आत्मामें ही अपने अनुसार देखता है और सब भूतोंमें आत्माको देखता है, वह उनसे सङ्कोच नहीं करता।

मनुष्यको अपने अन्तरात्मामें सुख-दुःखका अनुभव होता है, तदनुसार दूसरोंको भी होता है। इस भावनाके अनुसार मनुष्य सबको देखकर व्यवहार करे तो वह निःसङ्कोच होकर सबका हित कर सकता है। दूसरेके सुख-दुःखका ध्यान न रखकर जो व्यवहार करता है, उसीको काम करनेमें सङ्कोच होता है। सबमें अपने ही आत्माका अस्तित्व जानने-वाला सुखी रहता है। वह स्वाभाविक ही वञ्चकताके व्यवहारसे दूर रहता है। वह सर्वप्रिय होकर संसारको सदाचारका क्रियात्मक पाठ पढ़ाते हुए जीवन व्यतीत करता है।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

---

* जलप्रपातमें प्रवाहरूप जल दूर जा रहे हैं; पर युगोंसे प्रपात वहीं-का-वहीं रहता आया है और रहेगा। सूर्य सौर्य जगत्में चलता हुआ दीखता है पर वह करोड़ों वर्षोंसे अपने स्थानमें स्थिर है।

जिसमें (ब्रह्ममें) व्यक्त होकर आत्मा ही सब भूतोंका रूप हुआ। इस तत्त्वको अच्छी तरह जाननेवाले एवं तदनुसार अनेकत्वमें एकत्व समझने या देखनेवालेको वहाँ (लोकमें व्यवहारके समयमें) मोह क्या ! और शोक क्या अर्थात् उसको न किसीसे मोह होता है और न किसीके व्यवहारसे शोक होता है।

समदृष्टि रखकर समव्यवहार करनेसे मनुष्यको मोह और शोक नहीं होते। विषमता रखनेवाले या बढ़ानेवाले ही मोह और शोकमें डूबे रहते हैं। राज्यारोहण और वनगमनको समदृष्टिसे समझनेवाले रामजीकी मुखमुद्रा विकृत नहीं हुई। एक-सी बनी रही।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

वह चारों ओर पहुँचा हुआ शुक्र (उज्ज्वल) कायारहित, व्रण (घाव) रहित, स्नायुरहित, शुद्ध, पापसे अभेद्य स्थितिमें रहता है। या प्राणिमात्रके मूलरूप शुक्र (वीर्य-रज) को चारों ओरसे घेरे हुए है। यह मूलरूप सूक्ष्म या अव्यक्त स्थितिमें कायारहित रहता है। वह कवि है; क्योंकि कार्य-कारणसहित पूर्वापर सम्बन्ध जानकर संसारकी रचना करता है। वह मनीषी है; क्योंकि सब प्राणियोंके मनपर शासन करता है। वह सर्वोपरि और स्वयं ही होनेके कारण परिभू और स्वयंभू भी है। उसीने प्राणियोंको और उनकी आवश्यकताओंको यथास्थान यथेष्ट प्रमाणमें सनातन कालसे स्थापित किया। प्राणियोंकी आवश्यकताओंको अनन्त युगोंसे पूरी करता हुआ स्थित है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

विद्का जानना और उपस्थित होना (विद्यमान होना) दोनों अर्थ है। अतः अविद्याके दो अर्थ होते हैं—अज्ञान और अभाव। इसी प्रकार विद्याके भी दो अर्थ हैं—ज्ञान और उपस्थिति। यहाँ ऋषिका भाव यह है कि अविद्या अर्थात् अज्ञान या दरिद्रताकी उपासना करनेवाले गाढ़ अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। महान् दुःखोंको भोगते हैं। इनसे अधिक अँधेरेमें रहकर वे दुःख उठाते हैं जो केवल ज्ञानकी बातें ही बनाते हैं। पर क्रियावान् होकर कुछ पैदा नहीं करते। अनुत्पादक परिश्रममें जीवन व्यतीत करते हैं और समाजपर अनुचित भार डालते हैं। बैठे-बैठे विचारकर योजनाएँ बनानेवाले अँधेरेमें ही पड़े रहते हैं। प्रकाशमें आकर काम नहीं करते। कामकी व्यावहारिक कठिनाइयोंको देखकर स्थगित हो जाते हैं। इसी प्रकार बिना विचारे काममें हाथ डालनेवाले भी दुःख उठाते और कामकी रीति न जाननेवाले उनसे भी अधिक दुःख भोगते हैं। पर संसारमें बुद्धिपूर्वक रमनेवाले (धीर) पुरुषोंसे सुना है कि विद्यासे अन्य और अविद्यासे अन्य परिणाम होता है। (दोनों गाढ़ अन्धकारमें नहीं पड़ते) यह बात उन्होंने हमको बार-बार सावधान करके समझायी है। इसलिये विद्या और अविद्या दोनोंको साथ-साथ जानना चाहिये। मनुष्य अविद्यासे मृत्युको पारकर विद्यासे अमृत (अमरत्व) को पाता है। अज्ञान या अभावमें रहनेसे पद-पदपर मरणके समान दुःख भोगने पड़ते हैं। यह जानकर विचारशील ऐसे दुःखोंसे बचनेके उपाय करता है। यही मृत्युको पार करना है। यह सब अविद्याके कारण होता है। इसलिये अविद्यासे मृत्युको पार करना कहा गया। जो बचनेका ज्ञान या साधन प्राप्त किया, वही जीवनका आनन्द लेनेका कारण होता है। यही विद्यासे अमृतको पाना है। विद्या पढ़कर और संसारमें कल्याणके काम करते हुए मनुष्य अपना नाम (यशरूपी जीवन) अमर बना देते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥

सम्भूति= (सं=अच्छी तरहसे, पूर्णरीतिसे भू=भवति, व्यक्त स्थितिमें आती है) वह पूर्ण व्यक्त स्थिति है, जिसमें 'ब्रह्म' व्यवहार करता है, यथा मानसमें कहा है, 'फूले कमल (क=ब्रह्म; मल=आवरण अर्थात् ब्रह्मका आवरण हटनेसे) सोह सर कैसे। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसे॥' विनाशका साधारण अर्थ वस्तुका रूप मिट जाना; जैसे अग्निमें पदार्थ जल जाते एवं नष्ट हो जाते हैं। पर अग्न्

धातुका अर्थ पाना है इसलिये विनाशका अर्थ विना पाया हुआ पदार्थ होता है। धीर पुरुषोंके ज्ञानको पूरी तरहसे समझनेके लिये शब्दोंको कुछ बदलकर एक ही भाव प्रकट किया है।

प्रत्यक्षवादी जड वस्तुको सब कुछ माननेवाले अँधेरेमें ही प्रवेश करते हैं। प्रकृतिके गर्भमें छिपी हुई शक्तिको ढूँढ़नेके लिये प्रयत्न करते हैं; मानो अँधेरेमें ही टटोल कर कुछ पा लेते हैं और हाथ आयी हुई वस्तुको या शक्तिको परम लाभ मानकर गर्व करने लगते हैं। संसारमें रेडियो, विजली, एटमबम, रेल, तार, टेलिफोन, सिनेमा आदि सहस्रों आविष्कारोंको उन्नतिकी दशाके चिह्न मानकर जडवादवाले सम्भूतिकी उपासनामें लगे रहते हैं और अपनी काली करतूतोंसे (अन्धन्तमः प्रवेश करके) संसारमें लाखोंके प्राण हरण किया करते हैं। इसी तरह (असम्भूतिमें) मानसिक कल्पनाओंमें लिप्त होकर निराकार ब्रह्मका ढिंढोरा पीटनेवाले भी मनमानी कहानियाँ रचकर मनोविलास करते हैं। ये महाशय भी वास्तवमें तत्त्वसे वञ्चित रहकर क्रियाहीन हो संसारमें पिस्सू-जीवन व्यतीत करते हैं, और 'अकर्मण्यता' को बढ़ानेका पाप कमाते हैं। इससे परिणामतः संसारमें डाह, मत्सर और शारीरिक व्याधियाँ फैलती हैं।

धीर पुरुषोंसे हमने सुना है और उन्होंने बार-बार सावधान करके समझाया है कि सम्भवसे (प्रकृति-नियमानुसार होनेवाले कामोंसे) अन्य परिणाम होता है और असम्भवसे (मनमानी कल्पना करके होनेवाली बातोंसे) अन्य परिणाम। संसारमें किसीका महत्त्व बढ़ानेके लिये जो विचित्र कल्पित बातोंका प्रचार करते हैं, उसका परिणाम भी जनतापर विचित्र ही होता है। संसारमें सब काम प्रकृतिके नियमानुसार होते हैं। प्रकृतिके नियमोंसे अनभिज्ञ जनोंको ऐसे काम संतोंका चमत्कार दीखता है; क्योंकि वे स्वयं इन कामोंको नहीं कर सकते। इसलिये सम्भूति (सम्भव होना, जन्म होना) और विनाश (असम्भव होना—जन्मका क्षीण है) या संसारमें पदार्थोंके रूपोंका होनेवाला नित्य संश्लेषण (सम्भूति Synthesis) और विश्लेषण (विनाश Analysis) को एक साथ जानना चाहिये। विनाशसे मृत्युको पारकर सम्भूतिसे मनुष्य अमृतको पाता है। विनाशके कारणोंको जानकर या विनाशको अनिवार्य जानकर मनुष्य मृत्युके भयको हटा सकता है। यही मृत्युको पार करना है। ऐसी मानसिक स्थितिसे मनुष्य अमृत (चिरकालतक आनन्द) भोगता है। सरकार कोई भवन बनाती है तो अपने चिट्ठे (बजट) में भवन बननेके पहले विगाड़-सुधार (Repair) का विचारकर लागतकी रकम नियत कर लेती है। संसारमें प्रकृतिके नियमानुसार पदार्थोंका संश्लेषण और विश्लेषण साथ ही चलता है। वे परस्पर एक दूसरेका पोषण करते हैं। अपने शरीरमें भी नित्य कोषाणु, पेशी, अस्थि, चर्म, रक्त आदि तत्त्वोंमें सम्भूति और विनाश साथ-ही-साथ हो रहा है। इसको ठीक जानकर मनुष्य अपने शरीरको स्वस्थ रख चिर आनन्द पा सकता है। माता-पिताके शरीरोंका विश्लेषण होता और पुत्र और पुत्रियोंके शरीरोंका परिणामतः संश्लेषण होता है। यही क्रिया ब्रह्मकी सृष्टिमें अनन्तकालसे चल रही है। पदार्थोंका जन्म (सम्भूति) होता और मरण (विनाश) होता है। यह क्रिया सापेक्ष होनेके कारण जन्म-मरण और मरण-जन्मका चक्र चला करता है। मनुष्यको स्मरण (सम्भूति) और विस्मरण (विनाश) हुआ करता है। विस्मरणका ध्यान रख अनावश्यक परिश्रमसे बचकर अपनी शक्ति आवश्यक बातोंको (स्मरण रखने योग्य बातोंको) जाननेमें लगाकर मनुष्य चिरकालतक आनन्द पा सकता है। बहुतसे 'लॉ' (कानून) पढ़कर शिक्षक बनते हैं। व्यर्थ कानूनका बोझा अपने सिरपर लादकर अपनी शक्तिका अपव्यय करते हैं। शक्तिका अपव्यय करना ही मृत्यु है और बचाना ही जीवनका आनन्द है।

धन एकत्र करनेकी (सम्भूतिकी) धुनमें लगकर लोग कितने अनर्थोंमें फँस जाते हैं। एकत्रित धनको उड़ानेमें (विनाशमें) लगकर कितने ही दुर्गतिमें पड़ते हैं। संसारमें उनका नाम-शेष भी नहीं रहता। धीर पुरुषोंने बार-बार समझाया है कि धन एकत्रित करनेका सुफल यही है कि उसको नाशसे बचाकर सत्कर्मोंमें (दान, धर्म और उपभोगमें) लगाना है। एकत्रित करनेके नियमोंको जानकर चिरकालतक सुखी रहो और विनाशके कारणोंको जानकर दुर्व्यसनोंसे बचो और मृत्युको पार करो।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

सत्यका मुख चमकीले सुवर्णके ढक्कनसे ढका है। हे सर्व (आत्मज्ञान) पोषक! सत्यधर्मको देखनेके लिये ढक्कनको हटा लो। धनवान् लोग धनबलसे अपना जाल फैलाकर और चापलूस लोग चटकीली बातें बनाकर सत्यको प्रकाशमें नहीं आने देते। इनकी बातोंमें आकर समाज सत्यको जाननेसे सदा वञ्चित रहता है। प्रतिदिन न्यायालयोंमें वकील लोग बकवाद करके सत्यको छिपानेका प्रयत्न किया करते हैं और नैतिक दुर्बलतामें पड़े हुए कर्मचारी भी रिश्वत लेकर 'सत्य' को दृष्टिसे दूर रखकर निर्णय किया करते हैं। इससे समाजमें दुराचार करनेवालोंको प्रोत्साहन मिल जाता है और धीरे-धीरे पूरे समाजमें नैतिकताका मान गिर जाता है। नीतिको मानकर सत्य प्रकट करनेवाला मूर्ख समझा जाता है। ऋषिका भाव है कि सूर्य सर्वज्ञान और चैतन्यताका केन्द्र है। वहाँसे किरणें शुद्ध रूपमें निकलती हैं पर पृथ्वीपर आकर विकृत तथा अशुद्ध हो जाती हैं जिससे हमारी दृष्टिसे पदार्थोंका सत्स्वरूप छिप जाता है। इसी प्रकार मनुष्योंके मनमें सत्यताकी झलक आती है परंतु स्वार्थ, द्वेष, दम्भ आदि दुर्गुण उसको ढक देते हैं, समाजमें प्रकट नहीं होने देते। इसलिये नम्रतासे कहा गया है कि हे दम्भ, कपट, झूठ, द्वेष आदिके पोषक नर! तू अपनी चटकीली बातोंको समेट ले और 'सत्य'को हमारी दृष्टिमें आने दे।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

इसमें उसी प्रकार निवेदन किया है। हे सर्वपोषक! सर्वद्रष्टा, यम, सूर्य और प्रजापति अपनी किरणोंके जालको समेट ले। हम तुम्हारा जो सर्वोत्कृष्ट कल्याण स्वरूप है उस 'सत्य'को देखें। सूर्यमें (किरणोंके मन्द होनेपर) जो कोई दीखता है वह पुरुष है और वही मैं हूँ। पृथ्वीमें सब प्राणी मांस, त्वचा, अस्थि आदि (किरणों)से आच्छादित हैं। इनके कारण प्राणोंका सत्यरूप दीखना कठिन है। यदि विचारसे कोई अस्थि आदि जालके परे देखे तो उसको अपने 'सम स्वरूप'का ही अस्तित्व सब जगह दिखायी देगा। इसी दृष्टिका महत्त्व ६-७ मन्त्रोंमें प्रकट किया है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

वायु जीवनतत्त्व है जो सूर्यप्रकाशकी सहायतासे भूलोकमें प्राणियोंके जन्म-मृत्युका मूल कारण है और प्राणियोंके शरीरोंमें प्रविष्ट होकर कुछ अवधितक क्रियावान् प्रतीत होता है।

क्रतुसे कभी कर्म और कभी कर्मप्रेरक इच्छाशक्तिका बोध होता है। यह शक्ति ही अग्नि है। यह दिव्य शक्ति पदार्थोंमें तीन रूपोंसे व्यक्त होती है। जैसे—दाह, प्रकाश और बल मानवी चेतनामें भिन्न भावनाओंद्वारा व्यक्त होकर क्रमशः नरको नारायण बना देती है। मनुष्यको 'सत्य' एवं 'शाश्वत' आनन्दकी ओर ले जाती है।

प्राणोंमें समाया हुआ वायु ही अमृत है और शरीर तो भस्ममें समाप्त होनेवाला है। अन्तमें शरीर ही जलकर भस्म बनता है पर अमृत वायु-प्राण अन्तरिक्षमें विचरण करते हैं। ऐसा समझकर हे क्रतु (कर्म करनेवाले) ॐ (सच्चिदानन्द परमात्मा)का स्मरण कर, अपने किये हुए कामोंका स्मरण कर।

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

अन्तमें अग्नि (प्रथम चेतन शक्ति—ब्रह्म-संकल्प जिससे संसारमें नाना प्रकारके व्यवहार हो रहे हैं) से प्रार्थना की गयी है। हे अग्नि! आप सर्वज्ञ हैं; विश्वमें व्यक्त हुई सब वस्तुओंको जानते हैं। आप हमको सुपथसे ले चलें, हमारे पापोंको दूर हटावें। हम अत्यन्त नम्र होकर आपको बारंबार नमन करते हैं। आपकी कृपासे ही हम पापोंसे हटकर सत्कर्मोंमें लग सकते हैं।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

अनन्यशरणागत होकर 'ब्रह्म-संकल्प' को जानना और तदनुसार काम करना ही सुपथमें जाना है। रामने सगुण होकर जिन कृतियोंका पालन किया, उन्हींका यथोचित यथाशक्ति पालन करना ही रामकृपा-भाजन होना है। यही रामभक्तिका यथार्थ रूप है अन्यथा संसारमें लोगोंको रिझानेका दम्भमात्र है।

अक्रूरका सौभाग्य

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

भगवान्‌में प्रेम होना बड़ा दुष्कर है । प्रेम प्रायः किसी देखी हुई वस्तुमें ही होता है । ऐसा ही हुआ तो कभी-कभी किसी परिज्ञात, किंतु पूर्णतया विश्वस्त पदार्थमें भी हो जाता है, पर वह भी तब, जब उसकी प्राप्तिकी सम्भावना हो । प्राणीका ऐसा स्वभाव होता है कि वह प्रायः सुलभ पदार्थोंकी ही कामना करता है । जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि अमुक वस्तु पाना मेरे लिये आसमानके तारे तोड़ने-जैसा कठिन है, तब वह उससे तुरंत विरत हो जाता है । यही बात भगवान्‌के सम्बन्धमें समझनी चाहिये । एक तो भगवान्‌पर लोगोंका विश्वास नहीं होता, (आजकल तो ईश्वरकी सत्तामें विश्वास न करना ही बुद्धिमानीका प्रमाणपत्र समझा जाता है) यदि विश्वास हुआ भी तो यह आशा नहीं होती कि भगवान् हमें कभी मिल पायँगे और कुछ लोग सब कुछ जानते हुए भी नाना प्रकारके झंझटोंमें फँसे रहनेके कारण उधर प्रवृत्त नहीं होते, इस तरह ये सभी भगवत्प्रेमसे वञ्चित रहते हैं । इस तरह स्पष्ट है कि भगवान्‌में अनन्य निष्ठा—आत्यन्तिक प्रीति प्राणीके लिये ही दुर्लभ वस्तु है । होनी ही चाहिये । महान् वस्तुओंकी प्राप्तिके साधन कितने कठिन होते हैं, उन्हें भला कितने जानते हैं । फिर भगवत्प्रेमसे तो संसारभरकी वस्तुएँ ही सर्वथा सुलभ हो जाती हैं, यहाँतक कि स्वयं सर्वेश्वरेश्वर भगवान् ही वशमें हो जाते हैं, तो यह क्यों सुलभ होने लगा—

'रघुपति भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोई जेहि बनि आई ॥'

इसलिये उच्चकोटिके विद्वानोंका यह सुनिर्णीत सिद्धान्त है कि जिसका प्रभुके सर्वकामवरास्पद चरणोंमें प्रेम हो गया, उसीका भाग्य जगा । इतना ही नहीं, प्रत्युत वही सबसे अधिक भाग्यशाली निकला—

राम नाम गति, राम नाम मति, राम नाम अनुरागी ।
होइगे, हैं, जे होहिंगे त्रिभुवन तेई गनियत बड़भागी ॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी । जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ।
एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ॥
(श्रीमद्भा० २ । ३ । १०-११)

किंतु इस तरह भाग्य जगानेका उपाय क्या है ? आइये इस सम्बन्धमें हम एक ऐसे ही भाग्यशालीकी सम्मति देखें ।

जब कंस अक्रूरको श्रीकृष्णके पास भेजता है तो वे भी विभीषण, सुतीक्ष्ण और मारीचकी भाँति अनेक प्रकारके मनोरथोंको करते हुए बढ़ते हैं । वे सोचते हैं—अहो, मुझसे बढ़कर भला कौन भाग्यशाली है, जो आज साक्षात् भगवान्‌का दर्शन करूँगा । आज मेरा जन्म सफल हो गया । अहा, आनेवाला प्रभात कितना सुन्दर होगा । भला, भगवान्‌का वह मुखकमल, जो केवल स्मरण किये जानेपर ही सारे पाप-सन्तापको नष्ट किये देता है, जिससे सभी वेद और वेदाङ्ग निकले हैं, मुझे देखनेको मिलेगा, इससे बढ़कर और क्या चाहिये—

चिन्तयामास चाक्रूरो नास्ति धन्यतरो मया ।
योऽहमंशावतीर्णस्य मुखं द्रक्ष्यामि चक्रिणः ॥
अद्य मे सफलं जन्म सुप्रभाता च मे निशा ।
यदुन्निद्राब्जपत्राक्षं विष्णोर्द्रक्ष्याम्यहं मुखम् ॥
पापं हरति यत्पुंसां स्मृतं संकल्पनामयम् ।
तत्पुण्डरीकनयनं विष्णोर्द्रक्ष्याम्यहं मुखम् ॥
निर्जग्मुश्च यतो वेदा वेदाङ्गान्यखिलानि च ।
द्रक्ष्यामि यत्परं धाम देवानां भगवन्मुखम् ॥
(ब्रह्मपुराण १९१ । २-५)

ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, अश्विनीकुमार, वसु और मरुद्गण जिन्हें स्वरूपतः नहीं जानते, वे ही साक्षात् श्रीहरि आज मुझे अपने करकमलोंसे स्पर्श करेंगे । जो सर्वात्मा,

सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप, सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित, अव्यय एवं व्यापी परमात्मा हैं, वे ही आज मेरे नेत्रोंके अतिथि होंगे। जिन्होंने अपनी योगशक्तिसे मत्स्य, कूर्म, वराह, हयग्रीव और नरसिंहादि अवतार ग्रहण किये थे, वे ही भगवान् आज मुझसे वार्तालाप करेंगे।

न ब्रह्मा नेन्द्ररुद्राश्विवस्वादित्यमरुद्गणाः।
यस्य स्वरूपं जानन्ति प्रत्यक्षं याति मे हरिः॥
सर्वात्मा सर्ववित्सर्वस्सर्वभूतेष्ववस्थितः।
यो ह्यचिन्त्योऽव्ययो व्यापी स वक्ष्यति मया सह॥
मत्स्यकूर्मवराहाश्वसिंहरूपादिभिः स्थितिम्।
चकार जगतो योऽजः सोऽद्य मां प्रलपिष्यति॥
(विष्णुपु० ५ । १७ । ८-१०)

महालक्ष्मी जिनकी सेवामें सर्वदा दासीकी भाँति तत्पर रहती हैं, सत्त्वरूपिणी गङ्गा जिनके चरणोंसे प्रादुर्भूत हुई हैं, दुर्गतिनाशिनी त्रैलोक्यजननी, मूलप्रकृति भगवती दुर्गा जिनके चरणोंको अहर्निश स्मरण करती रहती हैं, जिन महाविष्णुके लोमकूपोंमें असंख्य स्थूल एवं स्थूलतर ब्रह्माण्ड टँगे हैं, कल मैं उन्हीं भगवान्का साक्षात् दर्शन एवं स्पर्श प्राप्त करूँगा—

दासी नियुक्ता यद्दास्ये महालक्ष्मीश्च लक्षिता।
गङ्गा यस्य पदाम्भोजान्निःसृता सत्त्वरूपिणी॥
ध्यायते यत्पदाम्भोजं दुर्गा दुर्गतिनाशिनी।
त्रैलोक्यजननी देवी मूलप्रकृतिरीश्वरी॥
लोम्नां कूपेषु विश्वानि महाविष्णोश्च यस्य च।
असंख्यानि विचित्राणि स्थूलात्स्थूलतरस्य च।
तं द्रष्टुं यामि हे बन्धो मायामानुषरूपिणम्॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० उत्तरार्ध ६५ । १३-१७)

अक्रूरजी सोचते हैं—यद्यपि हम जानते हैं कि भगवान् महाविष्णु ही श्रीकृष्णरूपसे अवतीर्ण हुए हैं, एतावदपि इसे स्पष्ट करना ठीक नहीं अन्यथा होहल्ला मच जायगा, अतएव ऐसा न कर इनके विष्णुत्वकी मैं यथाविधि गुप्तमन्त्रणाकी तरह कृपणके धनकी भाँति मनमें ही पूजा करूँगा—

अहं त्वस्याद्य वसतिं पूजयिष्ये यथाविधि।
विष्णुत्वं मनसा चैव पूजयिष्यामि मन्त्रवत्॥
(हरिवंश विष्णुपर्व २५ । ३६)

इसी प्रकार चलते हुए एक स्थलपर उन्हें भगवच्चरणारविन्दके पदचिह्न मिलते हैं। जब वे अब्ज, यव, अङ्कुशादि चिह्नयुक्त उन चरण-नख-चिह्नोंको देखते हैं तो झट रथसे उतरकर उन धूलियोंमें लोटते हैं, उस रजको नेत्रोंमें लगाते हैं और कहते हैं कि अहो, ये हमारे प्रभुके पद-पद्मोंकी रेणु हैं—

पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसंभ्रमः
प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत
प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति॥
(श्रीमद्भा० १० । ३८ । २५-२६)

भगवान्से मिलकर उनकी जो दशा होती है, वह तो अवाङ्मनसगोचर है; किंतु सर्वाधिक विचित्र दशा होती है उनकी यमुनाजलमें भगवान्का दर्शन करनेपर। वे आनन्दमें निमग्न होकर प्रार्थना करने लग जाते हैं और अन्तमें कहते हैं कि 'प्रभो! मैं स्त्री, पुत्र, घर और परिवारादिमें अत्यन्त आसक्त हूँ, यद्यपि मैं शास्त्रों और संतोंसे अनेक बार सुन चुका हूँ कि ये सर्वथा मृगतृष्णाके जलकी भाँति मिथ्या हैं, किन्तु फिर भी प्रभो! इन स्वप्नवत् असत्य वस्तुओंको जानते हुए भी इनसे अपनी इन्द्रियोंको रोकनेमें समर्थ नहीं, इनका वियोग सहनेके लिये तैयार नहीं—

अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो॥
अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम्।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम्॥

यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं पराङ्मुखः ॥
नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४० । २४–२७)

अक्रूरजी अपनी परिस्थिति और भगवान्‌की इस अनुपम कृपाको स्मरणकर अत्यन्त विह्वल हो जाते हैं, और तब कहते हैं—'नाथ ! सच पूछा जाय तो मैं जो आपके चरणोंमें उपस्थित हुआ हूँ, या इन अतुल सुख-विधायिका चरणनखचन्द्रिकाकी छटाको दृष्टिपथ-सुलभ कर पाया हूँ—इसमें भी आपकी कृपाके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है । मैं तो यही समझता हूँ कि प्राणियोंको जब संसृतिसे छुट्टी मिलनेकी होती है, तब संतोंकी कृपासे आपके चरणोंकी ओर बुद्धि अग्रसर होती है—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४० । २८)

रघुपति भगति सुलभ सुखकारी । सो त्रय ताप सोक भयहारी ॥
बिन सत्संग भगति नहिं होई । ते तब मिलै द्रवै जब सोई ॥
जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये ।
जेहि दरस परस समादिक·······················,

सच पूछा जाय तो केवल अक्रूर ही नहीं, अपितु सभी शास्त्र एवं संत हो इस बातका समर्थन करते हैं कि भगवत्कृपासे ही भगवच्चरणोंमें प्रेम या सत्संगति प्राप्त होती है ।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥

(विवेक० ३)

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ।'

(रा० च० मा०)

यहाँतक कि स्वयं भगवान् ही ब्रह्माजीसे कहते हैं कि हे अङ्ग ! तुमने जो मेरी कथायुक्त स्तुति की है और तपस्यामें निष्ठा प्राप्त की है वह सब मेरी कृपा ही जानो—

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । ९ । ३८)

गीतामें आपका कहना है कि 'भक्तोंपर अनुग्रह कर मैं उन्हें अज्ञानान्धकारको नाश करनेवाले बुद्धियोगको देता हूँ, उनके हृदयमें ज्ञानरूपी दीप जलाता हूँ, जिससे वे शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(१० । १०-११)

महाभारतका तो कहना है कि जबतक मनुष्यके जन्मके समय भगवान् स्वयं कृपापूर्वक दृष्टिपात नहीं करते, वह कभी भी भगवद्भक्ति या अध्यात्ममार्गकी ओर अग्रसर नहीं हो सकता । हाँ, यदि करुणाभवन अपनी सकरुण दृष्टिसे देख दें तो वह अवश्य ही मोक्ष-धर्ममें निष्ठा प्राप्त करता है ।

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः ।
सात्त्विकस्तु स विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चितः ॥
एवमात्मेच्छया राजन्प्रतिबुद्धो न जायते ॥

(महा० शां० प० यो० प० नारायणी० ३४८ । ७३-७५)

भगवती श्रुति भी कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

(कठ० १ । २ । २३; मुण्डक० ३ । २ । ३)

अर्थात् भगवान्को पानेके लिये भगवान्की कृपा या इच्छाके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं ।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि भगवत्कृपासे ही भगवच्चरणोंमें प्रेम उत्पन्न हो सकता है, और भगवत्प्रेमसे जब भगवान् ही अत्यन्त सुलभ हो जाते हैं, तब इतर वस्तुओंकी बात ही क्या—

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् ।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २३ । ४२)

यह बात ध्रुव, प्रह्लादके चरित्रों एवं अन्यान्य अनन्त प्रमाणोंसे सिद्ध है । इसके प्रतिकूल भगवद्विमुखोंकी अन्यान्य साधनाओंसे उपार्जित सम्पदाएँ तो विपत्तियाँ ही होती हैं, जिनके फलस्वरूप घोर नरककी प्राप्ति होती है—

राम बिमुख संपति प्रभुताई । जाइ रही पाई बिनु पाई ॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्हि नाहीं । बरसि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं ॥

और इधर तो—

'न घटे जन सो जेहि राम बढ़ायो'

—की मुहर रहती है ।

पर आजकी दशा बड़ी विचित्र है । लोग ठीक शास्त्र और धर्मके प्रतिकूल मार्गसे अनेक प्रकारकी बेईमानी और शैतानीसे सम्पत्ति अर्जन करनेकी धुनमें लगे हुए हैं, जिससे दिन-प्रतिदिन उनके हृदयकी अशान्ति और बढ़ती जाती है । तरस आती है उनकी दुर्बुद्धिपर । उन्हें यह बिल्कुल ध्यान ही नहीं रहता कि ये काल, मृत्यु आदि हमारे पीछे पड़े हैं और अब शीघ्र ही हमें दबोचनेवाले हैं । वे अनेक प्रकारके सङ्कटोंको सामने देखते हुए भी नहीं देखते । आज अनेकों दुर्घटनाएँ, शतशः बीमारियाँ, महामारी, दुष्काल आदि आँखोंके सामने हैं, पर बड़ा आश्चर्य है हम इन्हें बिल्कुल नहीं देख पाते । भला, इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा । सचमुच भगवान्की माया बड़ी प्रबल है । उससे आच्छन्न होनेपर मनुष्यकी मति मारी जाती है, तभी तो प्राणी जान-बूझकर अनेकों आपदाओंका जड़ खुद खोदता है । आजकी निरङ्कुशता और उद्दण्डता इतनी बढ़ गयी है कि वह ईश्वरकृपाकी कोई अपेक्षा नहीं रखती, प्रत्युत वह ईश्वरके अस्तित्वका ही विरोध करती है । सचमुच ऐसे प्राणीको ईश्वर-कृपाका क्या अनुमान हो सकता है । उसे तो भगवत्कृपाके मार्गका अनुयायी बननेपर ही समझा जा सकता है । पर कृपा तो भगवान्की उन विमुखोंपर भी रहती है । उनकी ही कृपासे शब्द-रूप-रस-मैथुनादि विषयोंका वे अनुभव कर सकते हैं (कठ० ३ । १ । ३) । पर वे इतने कृतघ्न होते हैं कि भगवत्स्पर्श करना तो दूर रहा, उलटे भगवान्की निन्दा करते हैं । ऐसे व्यक्तिके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं—

स्वोपकारस्य कर्तारं मूढो यो नैव मन्यते ।
मृतः स कृमिविड् भूत्वा जायते कल्पकोटिषु ॥
अल्पमप्युपकारं यो न स्मरेत्केनचित्कृतम् ।
कृतघ्नः स तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मघ्नादपि पापकृत् ॥

सचमुच इस प्रकारके मोहकी क्या दवा है । तरङ्ग समुद्रसे घमंड करे, घटाकाश महाकाशसे घमंड करे, जीव प्रभुको भूलकर अपनेहीको सब कुछ मान ले तो इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा । इसीलिये उपनिषदें कहती हैं—

'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्'

प्रभो ! आप ही ऐसी कृपा करें जिससे मैं आपको न भूलूँ, आपका निराकरण न करूँ । आपकी उपेक्षा न करूँ ! अन्यथा—

'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति यो वदेत्'

—वाला दुष्परिणाम तो प्राणीको नसीब हुआ ही रहता है ।

भारतीय दर्शनका व्यावहारिक रूप

(लेखक—श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी)

उपनिषद्के ऋषिने कहा है 'सत्यका मुख सोनेके पात्रसे ढका है। हे प्रभो! उस ढक्कनको हटाओ, जिससे सत्य धर्मका दर्शन हो सके।' दर्शनका शब्दार्थ अपरोक्ष अनुभव है, जिससे संसारका मर्म और रहस्य देखा जा सके। जिससे मानव और उसके मनका और सबसे बढ़कर स्वयं अपना दर्शन हो, उस शास्त्रको ही दर्शनशास्त्र कहा जा सकता है। दर्शन ऐसी आँख है, जिससे द्रष्टा होनेपर भी अदृश्य सत्यका दर्शन होता है। इसी प्रकारके एक दार्शनिक्ने कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठ० २।१।१)

स्वयम्भू भगवान्ने इन्द्रियोंकी रचना ऐसी की है कि वे बाहर दूरके पदार्थोंको देख सकती हैं, इसीलिये साधारण मनुष्य चर्मचक्षुसे बाहरी दृश्यको ही देख सकता है। अपने-आपको देखनेवाला कोई विरला ही होता है, जो अन्तर्मुख नेत्रसे आत्मदर्शन करता है। वस्तुतः मनुष्य सबको देखता है, परंतु अपने-आपको देखनेका उसने कभी प्रयत्न नहीं किया। सबके साथ उसका संयोग हुआ। पर आत्माके साथ जिस दिन संयोग होगा, उस दिन उसे पूर्णताकी प्राप्ति होगी। अल्पतामें सुख नहीं, सुख पूर्णतामें है। इसी पूर्णताकी प्राप्तिके लिये मानव प्रयत्नशील है। दर्शनशास्त्र इस सम्बन्धमें मनुष्यका मार्गदर्शक है—

'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।'

सत्य अथवा पूर्णताका दर्शन कोरे पुस्तक-ज्ञानसे नहीं हो सकता। दर्शनशास्त्र आध्यात्मिक प्रयोगोंके आधारपर बना है। छान्दोग्योपनिषद्में कथा आयी है—नारद सनत्कुमारके पास गये और सिखानेके लिये प्रार्थना की। सनत्कुमारने पूछा 'जो तुम सीख चुके हो वह बताओ तो उसके आगे मैं कहूँगा।' नारदने कहा—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि, सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु।'

(छान्दोग्य० ७।१।२-३)

'भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—चारों वेद, इतिहास, पुराण, गणित, ज्योतिष आदि सभी विद्याओंको मैंने पढ़ा है; परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मैंने बहुत—सारे शब्दोंको ही पढ़ा है। आत्माको—अपने-आपको मैंने नहीं पहचाना। क्योंकि आप-जैसे अनुभवियोंके मुखसे मैंने सुना है कि आत्माको पहचाननेवाला शोक और दुःखसे रहित हो जाता है। परंतु मैं तो शोकमें पड़ा हूँ। कृपया शोक-सागरसे मुझे पार कीजिये।' इसके बाद सनत्कुमारने नारदको उपदेश किया है।

याज्ञवल्क्यने योगद्वारा आत्मदर्शनको ही परम धर्म कहा है—

'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'

हृदयकी गाँठ तभी खुलती है और शोक तथा संशय तभी दूर होते हैं, जब एक सत्यका दर्शन होता है। जो बात नारदने सनत्कुमारसे कही है, उसे अध्यात्मशास्त्रके सभी जिज्ञासुओंने स्वीकार किया है। आत्मदर्शन अनुभवगम्य है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।'

शाब्दिक ब्रह्मचर्चा करनेवाले व्यक्तिसे ब्रह्म-प्राप्तिके उपाय योगका जिज्ञासु व्यक्ति श्रेष्ठ है।

भारतीय दर्शन सत्यका साक्षात्कार करनेवाले ऋषियोंकी आध्यात्मिक प्रयोगशालाके लिखे गये हैं। हमारा यह विश्वास है कि ऋषियोंने अनुभवके आधारपर जो कुछ कहा है, उसे अनुभवके बिना झुठलाया नहीं जा सकता। हमारे देशका पतन इसी कारण हुआ कि भारतीय समाज और भारतीय दर्शनका सम्बन्ध टूट गया है। भारतीय दर्शनका महान् सूत्र है भेदमें अभेददर्शन—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६।२९-३०)'

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥
(गीता १३ । ३०)

'योगी पुरुष सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है । जो 'मैं' में सबको और सबमें 'मैं' को देखता है, उसका नाश नहीं होता । जब मनुष्य जगत्के पृथक्त्व-को एकमें स्थित देखता है, तब ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेता है ।' भेदमें अभेदका यह दर्शन जबतक भारतीय समाजका और भारतीयोंके वैयक्तिक जीवनका आधार रहा, तबतक भारत प्रगति करता रहा । इसी दर्शनके आधारपर भारतीयोंमें सहिष्णुता, समानता और समन्वय-बुद्धिका विकास हुआ । यम, नियम और योगके अन्य सब अङ्ग जबतक उक्त सूत्रसे संचालित होते रहे और जबतक भारतीय दर्शन व्यावहारिक क्षेत्रमें रहा, तबतक भारतीय समाज उन्नत और आदर्श समझा जाता था; परंतु जबसे उक्त सूत्र जीवनके क्षेत्रसे दूर और बहुत दूर हो गया, तभीसे भारतीय दर्शनकी प्रतिष्ठा कम हुई है और भारतीय समाज पङ्गु हो गया है । सबमें आत्माको देखनेवाला दर्शन आज उन लोगोंके हाथ है, जो अपने ही-जैसे मनुष्यको नीच मानकर उससे घृणा करते हैं । जो दर्शन प्रयोग और केवल प्रयोगके आधारपर चलता है, आज उसके उत्तराधिकारी अकर्मण्य और दीर्घसूत्री तथा श्रमकी उपेक्षा करनेवाले हैं । हमारे कथनका इतना ही अभिप्राय है कि केवल दर्शनशास्त्रके प्रणेताओंका गुणगान करनेसे और दर्शन-शास्त्रकी ऊँची-ऊँची बातोंको कहनेसे ही हमारा कुछ उपकार होनेवाला नहीं है ।

विज्ञानने आज देश और कालकी दूरी बहुत हदतक हटा दी है । हजारों मीलकी दूरीको आज विज्ञानने कुछ ही घंटोंमें तय करनेका साधन प्रस्तुत कर दिया है । आँख और कानके लिये आज बहुत हदतक दूर और समीपका भेद नहीं रहा । परंतु यह तथ्य है कि देश और कालकी दूरीपर विजय पानेवाला मानव दूसरे मानवसे पहलेकी अपेक्षा अधिक दूर होता जा रहा है । इस दूरीको हटानेकी क्षमता विज्ञानमें नहीं, दर्शनमें है । भारतीय दार्शनिक मानव और मानव ही नहीं—प्राणीमात्रमें और उससे भी आगे पदार्थके आगे एक समान अनस्यूतपर पुरुषको देखनेका निर्देश कर गये हैं । ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तोंके निर्माणकी अपेक्षा आज मानव-निर्माणपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है । मानवनिर्माणका अर्थ है मानव-को भेदमें अभेदमूलक दर्शनके आधारपर समानता, सहिष्णुता और सहृदयताके साथ सोचनेका अभ्यासी बनाना । मानव-जाति अपने क्रमिक विकासके साथ पूर्णताकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करती जा रही है । पूर्णताकी प्राप्ति पूर्ण दर्शनके बिना असम्भव है । पूर्णता और अमरता पर्यायवाची शब्द हैं । भगवान् बुद्ध जब उन्तीस वर्षकी उम्रमें आधी रातको अपनी प्रिय पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुलको छोड़कर घरसे बाहर निकले, तब उन्होंने प्रतिज्ञा की थी—

जननमरणयोरदृष्टपारो न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा ।

जन्म और मृत्युके रहस्यका पता लगाये बिना मैं कपिल-वस्तुमें प्रवेश नहीं करूँगा । बुद्ध भगवान्‌ने जिस रहस्यका पता लगाया, उसे अपनेतक सीमित नहीं रक्खा । मनुष्य-मात्रको दुःखसे छुड़ानेकी इच्छा ही उनके लिये मोक्ष था । भागवतपुराणमें नारायणके प्रति प्रह्लादने जो कहा है, वह भक्तोंके मननयोग्य है । प्रह्लादके शब्द हैं—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥
(७ । ९ । ४४)

'हे देव ! प्रायः मुनिलोग एकान्त जंगलमें अपनी ही मुक्तिके लिये कामना करते हैं । इसमें कोई परार्थ नहीं है । संसारके चक्रमें घूमते हुए इन दयनीय व्यक्तियोंको छोड़कर मैं अकेला मोक्ष नहीं चाहता । आपको छोड़कर कोई शरण नहीं, कृपया उपाय बताइये ।'

केवल अपने ही मोक्षकी इच्छा भक्त प्रह्लादके शब्दोंमें स्वार्थ-साधना है । आदिविद्वान् कपिलने सांख्यशास्त्रकी रचना मनुष्यजातिको त्रिविध दुःखोंसे छुड़ानेके लिये की है । प्राचीन ग्रन्थोंसे पता चलता है कि कपिल अपनी मुक्तावस्थामें-से निर्माण-शरीरद्वारा उस उपदेशकी पूर्तिके लिये अवतीर्ण हुए । सांख्यदर्शनका पहला सूत्र है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन तीन दुःखोंकी अन्तिम निवृत्ति परम पुरुषार्थ है । दर्शनकी उत्पत्तिका कारण क्या है, इस सम्बन्धमें पौरस्त्य और पाश्चात्त्य दार्शनिकोंमें मतभेद है । प्राच्य दर्शनकार मुक्ति अथवा निःश्रेयसको दर्शनका कारण बतलाते हैं । प्रारम्भसे ही मनुष्यके सामने जरा, मृत्यु और दुःख असाध्य रोग रहे हैं । दुःखसे आत्यन्तिक मुक्तिका नाम

ही मोक्ष है। जरा, मृत्यु और दुःखसे छूटनेके लिये ही भारत और विश्वके महान् दार्शनिकोंने विविध प्रयोग किये हैं। इन सब दार्शनिकोंका हमें ऋणी होना चाहिये।

मनुजीने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥

'तीन ऋणोंसे उऋण होकर ही मोक्षकी इच्छा करनी चाहिये। ऋणोंसे उऋण हुए विना मोक्षकी इच्छा करनेसे मनुष्यका पतन होता है।'

इन तीन ऋणोंमें प्रथम ऋण ऋषि-ऋण है। जिन ऋषियोंने संकटका स्वयं आह्वान करके प्रयोगके आधारपर मानव-समाजके लिये नयी दृष्टि प्रदान की है, उनसे उऋण हुए बिना हमारा वैयक्तिक मोक्ष नहीं होगा। इतना ही नहीं, सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टिसे भी हम हीन ही समझे जायँगे। ऋषि-ऋणसे उऋण होनेका उपाय प्राचीन ऋषियोंद्वारा चलायी गयी सत्यके प्रयोगकी अग्निको न बुझने देना चाहिये। जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, उनके अध्ययनका सबको व्रत लेना चाहिये। संस्कृत भाषाकी उपयोगिता राष्ट्रभाषाके रूपमें है या नहीं, इस सम्बन्धमें विवाद हो सकता है; परंतु यह निर्विवाद है कि संस्कृत भाषाका अध्ययन करके कोई भी मनुष्य प्राचीन दर्शनशास्त्रोंके अध्ययनद्वारा महान् आनन्द उपलब्ध कर सकता है, जो दूसरे प्रकारसे सुलभ नहीं। हर्षकी बात है कि हिंदी भाषामें कुछ दार्शनिक ग्रन्थोंका अनुवाद हुआ है, परंतु उन अनुवाद-ग्रन्थोंका जितना प्रचार होना चाहिये था, उतना नहीं हुआ यह हिंदी-जगत्‌के लिये गौरवकी बात नहीं है। अब सौभाग्यसे विदेशी शासनके हटनेके बाद अंग्रेजी भाषाका साम्राज्य नहीं रहेगा। आशा करनी चाहिये कि जाग्रत् और शिक्षित भारतीय समाज देववाणी संस्कृतकी ओर अभिमुख होगा और प्राचीन साहित्यका पुनः उद्धार होगा।

भारतीय दर्शनका प्रेमी होनेके कारण मैं पौरस्त्य और पाश्चात्त्य दोनों दार्शनिकोंका समान आदर करता हूँ और मेरी उत्कट अभिलाषा है कि संसारभरका दार्शनिक साहित्य शीघ्र ही हिंदी भाषामें अनूदित हो। हिंदी भाषा इस प्रकार समृद्ध होगी और हिंदी भाषा-भाषी ऋषि-ऋणसे उऋण होनेमें क्रियात्मक भाग लेंगे। इतना तो है ही कि स्त्रीमात्रमें मातृबुद्धि रखते हुए भी जिस प्रकार किसी व्यक्तिका अपनी माताकी ओर आकर्षण स्वाभाविक है और सर्वथा उचित है, इसी प्रकार भारतीय समाजका सुर-भारतीकी ओर आकर्षण होना चाहिये।

आध्यात्मिक दृष्टि

(लेखक—प्रो० पं०श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

सभी परिस्थितियोंमें भलाई देखना और सभी पुरुषोंमें दैविकताको पहचानना आध्यात्मिक दृष्टिके लक्षण हैं। इमर्सन महाशयका कथन है कि कवि, तत्त्वदर्शी और संतको सभी वस्तुएँ अपने अनुकूल और पवित्र दिखायी देती हैं। सब घटनाएँ लाभकारी, सब दिन शुभ और सभी मनुष्य देवरूप दिखायी देते हैं। यह दृष्टि किसी विरले ही व्यक्तिको प्राप्त होती है। साधारण मनुष्य गुण और दोष दोनोंकी ओर देखता है, वह परिस्थितियोंमें कुछको अनुकूल और कुछको प्रतिकूल देखता है। मनुष्य स्वयं अपूर्ण और दोषयुक्त है, अतएव उसके द्वारा निर्मित संसारमें भी दोष और अपूर्णता रहती है। प्रत्येक मनुष्य अपने संसारका निर्माण अपने-आप करता है। जैसा मनुष्य होता है वैसा ही उसका संसार होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मनुष्य अपनी आन्तरिक भावनाओंको ही दूसरे लोगोंपर आरोपित करता है। मनुष्यका बाहरी मन एक प्रकारका होता है और भीतरी मन दूसरे प्रकारका। बाहरी मनमें कोई व्यक्ति बड़ा सदाचारी और नैतिक होता है और भीतरी मन इसके ठीक प्रतिकूल होता है। जिस व्यक्तिमें किसी विशेष प्रकारके चरित्रके गुण अति प्रकाशित होते हैं, उसके आन्तरिक मनमें प्रतिकूल गुणोंका उतना ही दमन होता है। चरित्रके दोषोंका दमन अर्थात् विषय-भोगकी इच्छाओंका दमन मानसिक झंझट उत्पन्न कर देता है। इस मानसिक झंझटके कारण एक ओर मनुष्यके चरित्रमें अपने-आपको नियन्त्रित रखनेकी प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है, वह अपने-आपको तपस्वी बनानेकी चेष्टा करने लगता है और दूसरी ओर वह समाज-सुधारक बननेका प्रयत्न करता है। वह दूसरे लोगोंमें अनेक प्रकारके दोष देखता है और उनके प्रतिकूल आन्दोलन चलाता और उनको प्रकाशित करके विनाश करनेकी चेष्टा करता है। थोड़े ही समयमें तपस्वी व्यक्ति अपने-आपके सुधारकी बातको भूल जाता और दूसरोंके सुधारमें ही लग जाता है। उसके मनमें आत्मनिरीक्षणकी शक्ति ही नहीं रहती। वास्तवमें वह अपने ही दलित दोषोंको दूसरोंपर आरोपित करता है और दूसरोंका सुधार करनेकी चेष्टा करके वह अपने-आपको भुलाने मात्रमें समर्थ होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि पूर्णताकी दृष्टि है। मनुष्यको जब यह

दृष्टि प्राप्त हो जाती है तो वह अपने-आपमें और अपनेसे बाहर सर्वत्र पूर्णता ही देखता है। जब मनुष्य भीतरसे दुःखी होता है तो वह दुःखका संसार निर्माण कर लेता है। हम जो कुछ दूसरोंके बारेमें सोचते हैं, वह असलमें अपने-आपके विषयमें ही विचार है। संसारमें भले और बुरे दोनों प्रकारके व्यक्ति होते हैं। जैसे हम होते हैं उसी प्रकारके लोगोंसे हम मिलते हैं और उसी प्रकारके लोगोंके ऊपर हमारे विचार केन्द्रित हो जाते हैं। दूसरे लोगोंसे परेशान रहना अपने-आपसे ही परेशान रहनेका प्रतीकमात्र है।

मनुष्यका आत्मा अपने-आपको पहचाननेके लिये ही जगत्का निर्माण करता है। जब मनुष्यके बाहरी और भीतरी मनमें एकता नहीं रहती तो ऐसी परिस्थितियाँ सहजमें ही उत्पन्न हो जाती हैं जो उसे दुखी बनावें। मनुष्य इन परिस्थितियोंसे झगड़ता रहता है। वह सोचता है कि एक प्रकारकी परिस्थितियोंका अन्त होनेपर उसे मानसिक शान्ति मिल जायगी; पर ऐसा होता नहीं। ज्यों ही एक प्रकारकी चिन्ताओंका अन्त हुआ कि दूसरे प्रकारकी चिन्ताएँ उसे आ घेरती हैं। इस प्रकार मनुष्य सदा परेशान बना रहता है। परेशानीके कारण मनुष्यको बाहरी ओर चिन्तन न करके अपने विषयमें ही चिन्तन करना पड़ता है। जब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है तो उसकी कल्पित त्रुटियाँ अपने-आप दूर हो जाती हैं।

जिस मनुष्यका मन सुलझा रहता है, वह किसी प्रकारकी घटना अथवा किसी व्यक्तिसे न तो कोई द्वेष रखता है और न किसी विशेष प्रकारका लगाव रखता है। बाहरी जगत्में वही होता है जो हमारी आन्तरिक भलाईके लिये है। जिन लोगोंसे हम मिलते हैं और जिनके साथ हम रहते हैं, वे हमारे वास्तविक हितैषी हैं। इन्हीं लोगोंकी सेवा करना हमारा परम कर्तव्य है। इनकी सेवा करनेसे मनुष्यको जो आत्मप्रसाद उत्पन्न होता है, वही इस सेवाका सबसे अधिक मूल्य है। इस आत्मप्रसादसे मनुष्यकी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और वह सत्यको प्रत्यक्षरूपसे देखने लगता है।

मनुष्यके मनमें दो प्रकारकी वृत्तियाँ उठती हैं—एक ध्वंसात्मक और दूसरी सृजनात्मक। ध्वंसात्मक विचार मनुष्यको शान्ति न देकर दुःख देते हैं। दूसरे व्यक्तिकी आलोचना करना ध्वंसात्मक विचारोंकी प्रबलताका द्योतक है। इससे अपने मनको शान्ति न होकर अशान्ति ही होती है। सृजनात्मक विचार अपना और दूसरेका कल्याण करते हैं। इससे हमारा उत्साह बढ़ता है और नयी शक्तिका संचार होता है। अनुचित विचारोंको मनसे निकालनेका सर्वोत्तम उपाय उनके प्रति उदासीन होना है। जिन विचारोंको जितना ही अधिक उद्वेगके साथ मनसे निकालनेकी चेष्टा की जाती है, वे उतने ही प्रबल हो जाते हैं। अतएव मनुष्य एक भारी मानसिक झंझटमें पड़ जाता है। वह एक ओर अपने-आपसे लड़ता और दूसरी ओर इस लड़ाईमें अपने-आपको असमर्थ पाता है। सामर्थ्य नकारात्मक विचारोंसे उत्पन्न नहीं होता, सामर्थ्यकी जड़ सृजनात्मक विचार है। आत्मोन्नति और लोकसेवाकी दृष्टि रखनेवाले व्यक्तिको कुछ नये भावोंके निर्माणमें लग जाना चाहिये। न अपने विचारोंसे झगड़ा करना और न दूसरे लोगोंके विचारोंसे झगड़ा करना, वरं नये विचारोंके निर्माणमें लग जाना—आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है। उपादेयकी चर्चा करना और हेयको मानसपटलपर न आने देना आत्मविकासका मार्ग है।

अपने कामकी धुन ही मनुष्यके जीवनको सफल बनाती है। कामकी धुनमें मनुष्यके मनमें नकारात्मक विचार नहीं आते। दूसरे लोग भी अपने काममें लगे हुए व्यक्तिकी ओर आकृष्ट होते हैं और उसकी सहायता करने लगते हैं। दूसरोंकी आलोचना करनेवाले व्यक्तिकी सहायता कोई नहीं करता। उसे न बाहरसे कोई सहायक मिलता है और न भीतरसे। सदा आलोचना करनेवाला व्यक्ति हतोत्साह हो जाता है। वह संसारके सभी लोगोंको धूर्त और ठगके रूपमें देखने लगता है। वास्तवमें वह अपने भीतरी भावोंको ही इन बाहरी लोगोंके रूपमें देखता है।

मनुष्यके मनमें ही उसके सुख और दुःखका कारण है। मानसिक द्वन्द्व बाहरी द्वन्द्वमें प्रकाशित होता है। इस द्वन्द्वको मिटानेका उपाय उससे परेशान होना नहीं, वरं किसी रचनात्मक काममें लग जाना है। किसी प्रकारकी चिन्ता मानसिक असन्तोषको दर्शाती है। बाहरी चिन्ता भीतरी चिन्ताका प्रतीकमात्र है। इस चिन्ताका अन्त अपने-आपको जानकर रचनात्मक काममें लगनेसे हो जाता है। दूसरेके कामोंको न देखकर अपने-आपके कामको ही देखना अपनी ग्रन्थियोंके सुलझानेका उपाय है। ऐसी कोई परिस्थिति नहीं, जिसमें मनुष्यको रचनात्मक काम करनेकी जगह न हो और ऐसी भी कोई परिस्थिति नहीं जिसमें परेशानीके लिये स्थान न हो। बाहरी पदार्थोंको सुधारनेकी अपेक्षा अपने-आपके सुधारनेमें मौलिक लाभ होता है।

अवधूत

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
(गीता १२ । १८-१९)

'वह एक पागल आ गया है आजकल ! देखा होगा आपने ।'

'पूरा बना हुआ है, स्वार्थके लिये स्वाँग बनाया है उसने ।'

'समाज तो अन्धा है, ऐसोंका भी सत्कार करनेवाले निकल ही आते हैं ।'

'भैंसे-जैसा मोटा है और बिना परिश्रमके माल उड़ाता है ।'

'इसी अन्धश्रद्धासे तो हमारा सर्वनाश हुआ है । ये लाखों आलसी कुछ करने लगें तो…।'

'करनेकी एक रही । कहीं चोरी या डकैतीकी टोहमें न हों तो कुशल समझो । वैसे घरोंकी नारियोंपर तो दृष्टि रहती ही है इन मुसटंडोंकी ।'

'जब बराबर सुस्वादु भोजन मिलेगा तो संयम कैसे सम्भव है ?'

'चाहे जैसे हो, इस जंगलीको तो यहाँसे निकालकर ही रहूँगा ।'

'आपलोग एक महापुरुषकी निन्दा कर रहे हैं ।' अन्ततः तीसरा श्रोता मौन नहीं रह सका ।

'ऐसे ही महापुरुषोंने तो समाजका सर्वनाश कर डाला ।'

'आप-जैसे लोग ही इनको पालकर समाजमें अनाचार फैलाते हैं ।'

'मेरी शक्ति कितनी ।' श्रद्धालुका कण्ठ भर आया था । 'इस प्रकार नित्य प्रसन्न, अपने-आपमें निमग्न आनन्दमूर्तिके दर्शन मैंने तो कभी किये नहीं । मैं तो अपना सौभाग्य मानता हूँ कि मेरा रूखा-सूखा अन्न उन्होंने स्वीकार कर लिया ।'

'आपकी खीर-पूड़ी स्वीकार न होगी तो क्या चनेके टिकर ढूँढेंगे ।'

'घरपर होते तो हल जोतते-जोतते नानी याद आ जाती । निठल्ले तो नित्य प्रसन्न रहेंगे ही ।'

'साधुकी निन्दासे पाप ही होता है । उनकी हानि तो क्या होनी है ।' वह उठकर जाने लगा । जहाँ धर्म, ईश्वर और संतोंकी निन्दा होती हो, वहाँ बैठकर उसे सुनना भी अपराध है ।

'अरे चले कहाँ आप ? वे आपके महापुरुष आ रहे हैं ।' हँसकर एक ओर संकेत किया गया ।

दीर्घ भव्य आकृति, सुगठित स्थूल शरीर, गौर वर्ण, धूलिधूसरित, मस्तकपर धूलिसनी अलकें, आजानुबाहु, विशाल नेत्र, उच्च विस्तृत भाल—जैसे कोई महामूल्यवान् माणिक कीचड़से ढका हो । उन दिगम्बरको बालकोंने घेर रक्खा था और सब चिल्ला रहे थे । कीचड़-गोबरसे बालकोंने उनके पूरे शरीरको रँग दिया था । कोई कंकड़ियाँ मारता था और कोई जल या कीचड़ डालता । वे रह-रहकर खिलखिला पड़ते । जिधर मनमें आता, चलने लगते और चाहे जहाँ खड़े हो जाते ।

'आ तुझे पकड़ लूँ !' एक पुष्पपर तितली बैठी थी । बच्चोंकी भाँति दबे पैर बढ़े । मानवका कलुषित हृदय भले हृदयके प्रभावको ग्रहण न करे, पशु-पक्षी-कीट तो भावसे अभिभूत हो जाते हैं । तितली उड़कर उनकी लाल कीचड़ लगी हथेलीपर बैठ गयी । 'अरे,

अरे, कीड़ा नहीं छूता मैं। भाग जा ! भाग जा ! जैसे कोई भय आ गया हो। हाथोंको हिलाकर पीछे हटे। तितली पुष्पको भूलकर उनके ही चारों ओर परिक्रमा कर रही थी। बच्चे ताली बजा रहे थे।

'अबे, ओ पागलके बच्चे !' क्रोधसे उन्होंने एक चपत जड़ दी। 'बैलके समान मोटा हुआ है और काम करनेसे जान जाती है। सीधे इस गाँवसे चला जा; नहीं तो मैं तेरा सारा पागलपन उतार दूँगा।' चिल्लाकर जैसे आकाश फाड़ देना चाहते हों।

'अरे, अरे, यह क्या करते हैं आप !' श्रद्धालुने बीचमें पड़कर रोका।

'अं, अं, मक्खी मर जायगी तो।' रोनेका नाट्य कर रहे थे वे अवधूत ! 'ला, तेरा हाथ दुखता होगा।' जैसे चोट लगनेपर बच्चोंको लोग फूँक मारते हैं, वैसे ही मुँह बनाया उन्होंने हाथपर फूँक मारनेको।

'मैं कहता हूँ, यह नाटक छोड़कर सीधे चंपत बन !' चिल्लाते हुए उन्होंने तड़-तड़ दो-तीन हाथ और चला दिये। बीच-बचाव करनेमें एक चपत श्रद्धालुपर भी पड़ गयी।

'मैं भाग जाऊँगा, तुम दोनों लड़ते हो !' बड़े जोरसे खिलखिलाकर हँसे और सचमुच भाग चले।

'प्रभो ! मेरे गृहको श्रीचरणोंसे पवित्र करें ! बड़ा कष्ट दिया इन दुष्टोंने।' श्रद्धालु वहाँसे दौड़कर भागे आये। उन्होंने नम्रतापूर्वक मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। डाँट पाकर बालक दूर हट गये थे।

'घर जा तू, मैं क्यों जाऊँ ? तेरी अम्मा कान पकड़ेगी तेरे। मेरे कान कौआ ले जायगा—हाँ !' दोनों कानोंपर हाथ रक्खा उन्होंने। जैसे सचमुच कानोंको ले जाने कोई कौआ आ गया हो। भागे पूरे वेगसे। श्रद्धालु चकित देखता रह गया।

× × × ×

[२]

'ले भाई ! तुझे सर्दी लगती है !' कहीं कूड़ेपरसे एक मोटा चिथड़ा उठा लिया था। हाथोंपर उसे लिये आ रहे थे। राखके ढेरको कुरेदकर एक पिल्ला बैठा था। मरियल-सा कुत्तेका बच्चा और उसके सब केश खाजसे झड़ चुके थे। लाल-लाल चमड़ा देखकर घृणा होती थी। शिशिर ऋतु, नन्हीं फुहार और पश्चिमी तीव्र पवन। बेचारा कुत्ता मुखको पिछली टाँगोंके बीच दबाकर गोल हो गया था। उन्होंने चिथड़ा उसके ऊपर डाल दिया और थपथपाया। कुत्ता तनिक हिला, एक बार दबी पूँछमें गति आयी और फिर सोनेके लिये उसने निश्चिन्त होकर नेत्र बंद कर लिये।

'बाबा ! देखो न इस पागलको क्या ठंड नहीं लगती ?' अग्निके चारों ओर पुआलके बने गोल आसनोंपर एक वृद्ध हाथमें तंबाकू लेकर चूनेकी डिबियासे चूना निकाल रहे थे। पासमें उन्हींके समान एक पोपले मुखकी दृष्टि उनके हाथोंपर लगी थी। एक बच्चा एक तिनकेका अगला भाग जलाकर धूम्रपानका प्रयास कर रहा था और दूसरा एक पतली लकड़ी घुमाकर अङ्गारचक्र देखनेमें लगा था। एकने कम्बलको सम्हालते हुए पूछा। सबने कम्बल या चद्दरें मस्तकपर डालकर पीठका भाग ढँक रक्खा था। किसी-किसीने दोनों पैर आगे बढ़ा दिये थे और तलवे सेंक रहे थे। एक बार-बार हाथोंको गरम करके मुखपर फेर रहा था।

'देखो न बाबा ! वह तो बूँदोंमें भीगता जा रहा है !' दूसरे बच्चेने हाथ पकड़ा।

'वह तो पागल है ! उसे न सर्दीका पता लगता और न गर्मीका !' वृद्धको इस मीमांसाका अवकाश नहीं था कि पागलको शीत-उष्णका कष्ट होता है या नहीं। उन्होंने तो चूना निकाल लिया था। चूनेदानी सम्हालकर बंद की और उसे बटुएमें रखकर बटुएके दोनों ओरकी रस्सी खींचकर उसका मुख संकुचित करके बंद

किया। बटुआ जेबमें रखकर तंबाकूपर चिटकी चलानेमें लग गये।

'हाँ बाबा! उसे तो गर्मी भी नहीं लगती। मैं, जब आम थे न, दोपहरीमें कच्चे आम लेने गया था। वहीं जब लू लग गयी थी मुझे।' एक लड़केने समर्थन किया। 'वह आमके नीचे भी नहीं बैठा था। उस मधुआके कुएँकी जगतपर अंटाचित्त पड़ा था। मुन्ना देखने गया उसे तो पक्की जगतपर पैर रखते ही चिल्लाकर भागा।'

'बाबा! मेरे पैर जल गये तो भागता नहीं!' मुन्नाने पैरोंकी ओर देखा जैसे अब भी वहाँ जलनेका कोई चिह्न मिल जायगा।

'तुमने देखा कहाँ, वह तो वर्षामें खेतकी मेंड़पर सोया रहता था!' बड़े होनेके कारण दामोदरको भी योग्यता तो बतानी चाहिये।

'भैया! दौड़ो! देखो वह गिर गया!' चर्चा बीचमें ही बंद हो गयी। लड़कीने सबका ध्यान एक ओर आकर्षित किया। बूँदोंने मार्गको चिकना कर दिया था। पैर फिसला और स्थूल शरीर गिर पड़ा। वृद्धने कम्बल सम्हाला और उठ खड़े हुए। लड़के पहले ही दौड़ गये थे। हाथ पकड़कर वे पागलको उठाकर ले आये और अग्निके समीप बैठा दिया।

'लाल, लाल, मेरा पैर लाल, लाल!' घुटना कंकड़ोंपर पड़ा था। रक्त आ गया था वहाँसे। पागलने हाथमें रक्त लगाया और बच्चोंको दिखाने लगा। बड़ा प्रसन्न था वह। अग्निकी उष्णताके कारण रोएँ सीधे होने लगे थे, इधर उसका ध्यान नहीं था।

'हल्दी-चूना!' वृद्धने लड़कीको आदेश दिया। गरम करके लेप किया उन्होंने और ऊपरसे एक वस्त्रखण्ड भली प्रकार बाँध दिया।

'मेरे पैरने कपड़ा पहन लिया!' पागलको नवीन कौतूहल हुआ।

'तुम भी थोड़ा खा लो!' हरी मटरके दाने तेलमें तले गये थे और उनमें नमक-मिर्च पड़ी थी। एक-एक कटोरेमें सबके लिये आया। वृद्धने तंबाकू अपने दुपट्टेके छोरपर बाँध दी और एक कटोरा पागलको देकर एक स्वयं लिया।

'बाबा! यह कैसे खाता है!' बच्चोंको कुतूहल हो रहा था। कटोरेमें मुख लगाकर वह इस प्रकार भोजन कर रहा था, जैसे उनका बछड़ा करता है। वह भोजनमें तल्लीन था। उसे किसीकी चिन्ता नहीं थी।

'पानी चाहिये!' उसने कटोरेमें ही दूध मिला शर्बत पी लिया था। हाथ धोने और आचमन करनेकी वहाँ आवश्यकता नहीं थी।

'तंबाकू लोगे!' वृद्धने तीन बार ताली बजाकर ठोंका। दो लड़कोंको छींकें आयीं। दूसरोंने मुख फिरा लिया। एक चिटकी दूसरे वृद्धको देकर दूसरी चिटकी उन्होंने पागलके फैले हाथपर रख दी। उसने अपने हाथको नासिकाके समीप ले जाकर सूँघा और इस प्रकार नाक सिकोड़ ली जैसे यह पदार्थ पसंद नहीं आया। तंबाकू भूमिपर डाल दी उसने और उठ खड़ा हुआ।

'बैठो, सर्दीमें कहाँ ठिठुरते फिरोगे। भोजन करके तब जाना। तबतक बूँदें बंद हो जायँगी और सम्भव है कि धूप भी निकल आवे!' वृद्धने आग्रह किया। पागल क्या, जो सबकी बातें समझ ले और व्यवस्थित व्यवहार करे। वह तो इस प्रकार चला गया, जैसे कुछ सुनता ही न हो।

'बाबा! उसे फटा कम्बल दे आऊँ?' एक लड़केको बड़ी दया आयी थी उसपर।

'दे आओ! वैसे तो किसी कुत्तेके पिल्ले या बकरीपर ही डाल देगा वह; किंतु जबतक रक्खेगा, ठंड तो न लगेगी।' भोले ग्रामीणोंमें श्रद्धा अधिक होती है। उनके अपने अभाव हैं, कष्टके अनुभव उन्हें सिखलाते

हैं। लड़का दौड़ा और उसने कम्बल उस पागलके शरीरपर लपेट दिया। कौन कह सकता है कि कबतक वह उसके शरीरपर रहेगा।

'दोपहरको उसके लिये भी रोटी बना लूँ!' लड़कीने पूछा! उसने सुना था कि वृद्ध उसे दोपहरको भोजनको कह चुके हैं और जब किसीको भोजनको कहा जा चुका तो भोजन तो उसे पहुँचाना ही चाहिये।

'पगली है तू भी! उसे कहाँ ढूँढ़ेंगे हम!' सच तो है, पागलका कहीं घर तो होता नहीं। उसका कोई निश्चित गन्तव्य भी नहीं। कहाँ कब वह रहेगा, कैसे जाना जाय।

'भाई! वह पागल तो नहीं लगता।' दूसरे वृद्धने कहा 'न तो कभी किसीको गाली देता है और न मारता है। मल-मूत्र भी मार्गमें या किसीके द्वारपर नहीं करता।' जान-बूझकर उन्होंने यह नहीं कहा कि शौचके लिये उसे जलकी आवश्यकता नहीं होती और स्नान तो वर्षाके बादल ही कभी कराते होंगे।

'शान्त पागल भी तो होते हैं!' उत्तर और कोई हो नहीं सकता था। 'रामपुरके शास्त्रीजीने महात्मा समझा था। नित्य ढूँढ़कर भोजन कराते, पकड़कर स्नान कराते और रात्रिमें अपनी शय्यापर शयन कराते; किंतु एक दिन वहाँसे पता नहीं कहाँ चला गया यह और आज यहाँ देखा है मैंने। जिसकी कहीं माया-ममता नहीं, शरीरके सुख-दुःखका पता नहीं, किसीके भले-बुरेका ज्ञान नहीं, वह पागल नहीं तो और क्या है।' कोई भी पागल ही कहेगा उसे देखकर। वृद्धका निर्णय अनुचित तो नहीं ही था।

× × × ×

[३]

'आप यहाँ इस प्रकार पड़े हैं?' प्रणाम करके हाथ जोड़कर वे चरणोंके समीप बैठ गये। इंगुदीके वृक्षके नीचे महापुरुष एक सँकरे स्थानमें दाहिनी हथेलीपर मस्तक रक्खे आधे लेटे थे। यद्यपि उनका शरीर मैलसे ढँका था, पर उससे एक मधुर सुगन्ध निकल रही थी। ललाटपर घुँघराली अलकें जटा बनने लगी थीं। वर्षा ऋतुमें नालेने यहाँ चौड़ी भूमि काट दी है। यदि प्राकृतिक सौन्दर्य देखनेकी इच्छासे इस ऊबड़-खाबड़ स्थलकी ओर न आये होते तो इन महापुरुषके दर्शन न होते। शास्त्रीजी शिष्योंके साथ यमुना-किनारे करीर-कुञ्जोंमें घूमने निकले थे। एक तेजस्वी महापुरुषको देखकर वे उनके पास आ गये। प्रणामके पश्चात् उन्होंने पूछा—'बिना पौष्टिक पदार्थोंके सेवन किये शरीर स्थूल होता नहीं। पौष्टिक पदार्थ, सुख-भोग परिश्रमसे प्राप्त होते हैं। आप कोई उद्यम करते जान नहीं पड़ते। आपके श्रीमुखपर जो विलक्षण प्रसन्नता झलक रही है, संसारकी उलझनोंमें लगे पुरुषोंको ऐसी निश्चिन्तता एवं प्रसन्नता प्राप्त हो ही नहीं सकती। बिना चाहे हुए शरीरकी यह पुष्टता और यह आनन्द आपको कैसे प्राप्त हुआ?'

'तुम जिज्ञासु हो और जो जाननेका अधिकारी हो, उससे छिपाना उचित नहीं है।' वे महापुरुष न हिले, न उठनेका उन्होंने प्रयत्न किया। वैसे ही लेटे-लेटे बोले—'उद्यम करनेवालेको ही भोग प्राप्त होते हैं—तुम्हारे इस निश्चयमें ही दोष है। शास्त्रज्ञको ऐसा कुतर्क नहीं करना चाहिये। तुमको पता है कि शरीरमें चेष्टा या तो वासनासे होती है, या प्रकृतिकी प्रेरणासे। चेष्टामें कर्तापनका अहंकार होनेसे उस कर्मका चित्तमें संस्कार बनता है। यही संस्कार अगले जन्मोंमें प्रारब्ध बनते हैं। चेष्टासे जो प्रत्यक्ष फल मिलता प्रतीत होता है, वह तो प्रारब्धसे प्राप्त होता है। चेष्टाका फल नहीं है वह।'

कर्म, संस्कार, फल और अहंकार—ये सब पृथक्-पृथक् हैं, यह बात शास्त्रीजीने मीमांसाशास्त्रमें पढ़ी अवश्य है, परंतु वह शास्त्रीय सिद्धान्त मूर्ति बनकर आज ही उनके सामने आया है।

'वासनाद्वारा जो चेष्टा होती है, वह शरीरमें आसक्ति होनेसे होती है। जबतक शरीरमें आसक्ति है, सन्तोष हो नहीं सकता। जिसे सन्तोष नहीं, उसे सुख कैसा।' महापुरुष कहते जा रहे थे—'मेरा प्रारब्ध कभी सुख देता है मुझे, कभी दुःख। आज यहाँ भूमिपर पड़ा हूँ, कल कोई उत्तम शय्यापर शयन करायेगा। कभी बच्चे गोबर-कीचड़ लगाते हैं, कभी श्रद्धालु चन्दन लगाते हैं। कोई कंकड़ मारते हैं, कोई पुष्पाञ्जलि देते हैं। कभी उपवास होता है, कभी कुछ दाने मिल जाते हैं, कभी-कभी षट्रस व्यञ्जनोंसे सत्कार होता है मेरा। प्रारब्धके दिये कड़वे उपहारोंसे असन्तोष और सुन्दर भोगोंसे मोह व्यर्थ है। वासनासे असन्तोष होता है। प्रारब्धसे जो अच्छा या बुरा प्राप्त होना है, प्रयत्न उसमें कुछ घटा-बढ़ा नहीं सकता। जो भी आता है, मैं उसीमें सन्तुष्ट रहता हूँ। प्रकृतिकी प्रेरणासे ही मेरे शरीरमें चेष्टा होती है। चेष्टामें अहङ्कार करके मैं शोकातुर क्यों बनूँ।'

'मैं भूलता नहीं हूँ—कल आपको ही उस गाँवमें कुछ दुष्ट गालियाँ दे रहे थे।' शास्त्रीजीने मस्तक झुकाया। 'मैं वहाँ पहुँचा तो आप चले गये थे। ऐसे महापुरुषका अपमान······।'

'नारायण! वे मेरे सम्बन्धमें कुछ शब्द कह रहे थे और अब तुम कुछ शब्द कह रहे हो!' वे धीरेसे हँसे। 'इस मिट्टीके पुतलेको लक्ष्य करके कुछ शब्द कहे गये। शब्द आकाशका गुण है। उसमें निन्दा-स्तुति, मान-अपमान कल्पना है। सब शब्द हैं। तुम्हें विश्वास न हो तो किसी ऐसे व्यक्तिके सम्मुख बोलकर देखो जो तुम्हारी भाषा न जानता हो। शब्दमें अर्थकी तो कल्पना की गयी है। मैं दूसरेकी कल्पनाको क्यों स्वीकार करूँ। शब्दको केवल शब्द मानकर मैं मौन रहता हूँ।'

'यहाँसे समीप ही इस सेवकका निवास है।' शास्त्रीजीने आग्रह किया, 'आप जहाँ आज्ञा देंगे, वहीं कुटिया बना दी जायगी और जो अनुकूल पड़ेगा, वैसा प्रसाद उपस्थित करनेका प्रयत्न करूँगा। कलसे चातुर्मास्यका प्रारम्भ हो रहा है। मेरे-जैसे सेवकपर कुछ समयतक कृपा होनी चाहिये।' शास्त्रीजी जानते थे कि संन्यासी कहीं एक स्थानपर नहीं रहते। शास्त्रके आज्ञानुसार चातुर्मास्य एक स्थानपर करना स्वीकार हो जाय तो सत्संगका लाभ मिल सकता है।

'बच्चे हो तुम!' खिलखिलाकर हँसे वे। 'अनुकूल और प्रतिकूल क्या? प्रारब्ध जो स्वतः उपस्थित करे, वही अनुकूल होना चाहिये। बिना प्रयास जो भी प्राप्त हो अथवा न प्राप्त हो। सर्प कभी घर नहीं बनाया करता। वह तो दूसरोंके बनाये, अस्त-व्यस्त सूने घरको बसेरा बना लेता है। घर न मिलनेपर कहीं भी कुंडली मारकर बैठ जाता है। चातुर्मास्यका विधान संन्यासीके लिये है और आतिथ्यका तुम्हारे लिये। प्रकृतिसे प्रेरित पशुके लिये कोई विधान नहीं।'

शास्त्रीजी विद्वान् थे। उन्होंने समझ लिया कि ऐसे अवधूत या तो खंडहरोंमें पड़े रहना उपयुक्त मानते हैं या कहीं भी तरुतले, झाड़ियोंमें, भूमिपर। शरीरके सुख-दुःखसे निश्चिन्त, प्रत्येक प्रकारके संग्रहसे दूर, शारीरिक सुखके लिये चिन्तन न करनेवालेका शरीर केवल प्रकृति-द्वारा पशु-शरीरोंकी भाँति संचालित होता है। ऐसे गुणातीत पुरुष विधि-निषेधसे परे होते हैं।

'वर्षाके कारण यह स्थान ठहरनेके अयोग्य हो जायगा।' शास्त्रीजीकी श्रद्धा बाध्य कर रही थी कि कुछ सेवाका सौभाग्य प्राप्त होना ही चाहिये। 'मेरी कुटियाको भी चरणरजसे पवित्र होना चाहिये। इस प्रकार तो यहाँके उजड्ड लोग अत्यन्त क्लेश देते हैं।'

'वर्षा आवेगी, यहाँ नाकमें जल आवेगा तो पृथ्वीमें क्या ऊँचा स्थान नहीं?' महात्मा अपनी मस्तीमें थे। 'कष्ट या सुख कौन देता है किसको? मैं स्वयं अपनेको कष्ट क्यों दूँगा। कष्ट पाऊँगा भी कहाँ देनेके लिये।

ये मिट्टीके पुतले—मिट्टी मिट्टीको मिट्टी ही देती है। तुम तो पण्डित हो। ये ग्रहोंके योगसे शरीर होते हैं न? टकराने दो ग्रहोंसे ग्रहोंको। अपना क्या बिगड़ता है।'

शास्त्रीजीने फिर प्रार्थना की। वे उठकर खड़े हो गये। जिधर ले जाया गया, चले गये। बड़ी सावधानीसे शास्त्रीजीने स्नान कराया उन्हें। रीठेके फेनिल जलसे उनकी घुँघुराली धूलिभरी जटाएँ स्वच्छ की गयीं। शरीरमें सुगन्धित अंगराग लगा और मस्तकमें पाटलसार (इत्र) तैल। सुस्वादु भोजनसे सत्कार करके शयन कराया उन्हें चन्दनकी शय्यापर। सावधानी रखनी पड़ती थी कि वे कहीं चले न जायँ। स्नान, भोजन, शयन, आच्छादन—सब कराना पड़ता था। वे स्वयं कुछ करते नहीं थे।

एक दिन प्रातः शिष्योंने सूचना दी, 'शय्या खाली पड़ी है। कौशेय वस्त्र (रेशमी कपड़े) वहीं रह गये हैं। वे दिगम्बर कहीं चले गये।' अवधूत जब रमते राम हुए तो कौन पा सकता है उन्हें। ढूँढ़नेका प्रयत्न असफल रहा। शास्त्रीजीने चन्दन-पादुकाओंको सिंहासनपर स्थापित किया। वे नित्य उनपर पुष्पोंकी अञ्जलि अर्पित करके प्रणाम कर लेते हैं।

× × × ×

[४]

'आजकल वह पागल फिर आया है। मैंने कल देखा है उसे।'

''बड़े काइयाँ होते हैं ये। उस बार तो बच्चूको केवाँच लगायी थी, इस बार एक दर्जन बिच्छू ऊपर न फेंक दूँ तो मेरा नाम।'

'कुछ भी हो, किसीको इस प्रकार पीड़ा देना उचित नहीं।'

'ये बदमाश, इनका सिर बिना डंडेके रास्तेपर आता नहीं। पता नहीं किस घातमें यह फिर आया है। उस बार दाव नहीं लगा था कोई।'

'बच्चे ही बहुत हैं इन उपद्रवोंके लिये।'

'वह गधा, बालकोंके हाथके पत्थरोंसे प्रभावित कहाँ होता है। आओ चलो, तुम केवल खड़े-खड़े देखते रहना।' साथीको एक ओर खींचकर ले चला वह।

'तब क्या तुमने बिच्छू एकत्र कर रक्खे हैं?'

'मुझे तो पालना पसंद है। मेरे पिंजरेमें बड़े-बड़े पंद्रह तो अवश्य होंगे!' घर जाकर उन्होंने एक आलेमेंसे पिंजरा निकाला। अलमोनियमका डिब्बा, छोटे-छोटे छिद्रोंसे भरा था। ढक्कन हटाते ही काले डंक उठ गये और सब सतर्क हो गये। उसमें कुछ मिट्टी पड़ी थी और उसपर किसीका एक पैर और डंक पड़ा था। किसीने मल्लयुद्धमें प्रतिद्वन्द्वीको पेटमें पहुँचा दिया था, यह अवशेष उसीका था। एक चौड़े मुखकी शीशीमें चमचेसे पकड़कर भर दिये गये सब और ऊपरसे कार्क लग गया।

'बड़ी भयंकर जाति है!'

'अब चलो खोज करने!' शीशी कोटकी जेबमें रख ली गयी।

श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीवृन्दावनचन्द्र।
जय जय राधे कृष्ण राधे कृष्ण राधे गोविन्द॥

दूरसे एक मधुर ध्वनि सुनायी पड़ रही थी। दोनों हाथ उठाये कोई उछलता-कूदता गा रहा था तन्मय होकर। कुछ लोग घेरे हुए थे उसे। 'आज तो नया स्वाँग बनाया है!' एकने दूसरेके कानमें कहा। वे जिसे ढूँढ़ कर रहे थे, उसे पहचान लिया था उन्होंने।

'गुरुदेव!' दोनोंको आश्चर्य हुआ, 'रामपुरके ये शास्त्रीजी तो प्रख्यात विद्वान् हैं। वे इस प्रकार इस पागलके सम्मुख प्रणाम क्यों कर रहे हैं?'

'मैंने कहा नहीं था कि पूरा गुरुघंटाल है। देखा, कितने बड़े-बड़ोंके सिरपर उल्लूकी लकड़ी घुमा चुका है। ये शास्त्रीजी इसीकी खोजमें आये होंगे और आश्चर्य नहीं कि यहाँसे खिसककर यह इतने दिन

रामपुर ही रहा हो !' विष भरा था वाणीमें।

'इस भले आदमीको हो क्या गया है ? लज्जा भी नहीं आती !' आश्चर्य उचित ही था। इतना बड़ा विद्वान् इतने लोगोंके सामने इस प्रकार हाथ उठाकर बंदरनाच नाचने लगे तो क्या कहा जाय। पागल तो भला पागल ही था, किंतु उसका पैर छूते ही शास्त्रीजी-पर भी पागलपन सवार हो गया। कहीं दुपट्टा गिरा और कहीं साफा। उस नंगे पागलके साथ हाथ उठाकर वे भी नाचने लगे।

'अरे, यह तो वही पागल है, जिसे तूने कम्बल दिया था।' समीप खड़े एक वृद्धने अपना हाथ पकड़कर खड़े बालकको दोनों सामनेके आदमियोंके बीचसे आगे बढ़ा दिया और दिखाया।

'बाबा ! मैं बुलाता हूँ इसे !' चंचल बालक आगे बढ़ा। यह क्या हो रहा है ? पागलको स्पर्श करते ही वह बालक भी हाथ उठाकर नाचने लगा। वृद्ध घबड़ाया। उसने लपककर अपने बच्चेका हाथ पकड़ लिया और तब दोनों हाथ उठाकर पागलके साथ वह भी नृत्य करने लगा।

'यह क्या कोई जादू जानता है ?' वहाँ नेत्रोंसे अविराम अश्रुप्रवाह चल रहा था। पुतलियाँ ऊपर उठ गयी थीं और मानो सुदूर नीलक्षितिजके उस पार किसीको देखकर वह पुकार रहा है उसे।

'कुछ भी हो, मैं इस नाटकको अभी समाप्त कर देता हूँ। छठीका दूध याद आ जायगा।' भीड़में तनिक आगे खिसककर वह पागलके समीप हो गया। शीशी हाथमें आ गयी और हाथ ऊपर उठाकर कार्क खोलकर उसने शीशी मस्तकपर उलटी। 'हाय रे, मरा रे !' गिर पड़ा चिल्लाकर स्वयं ही। बिच्छू कोई कंकड़ तो नहीं कि शीशी उलटते ही गिर पड़ेंगे। एकने रेंगकर हाथपर डंक मारा और तब हाथने अपने ही मस्तकपर शीशी पटक दी। दनादन डंक लगने लगे। चौंककर लोगोंने देखा और सब भयसे पीछे हट गये। वस्त्रोंपर बड़े भयंकर काले बिच्छू टहल रहे थे और उन्हें हटानेके प्रयत्नमें दूसरा हाथ भी डंकसे घायल हो चुका था। वह पड़ा तड़प रहा था भूमिपर।

'महापुरुषोंकी निन्दा और उनको कष्ट देना एक दिन फल देता ही है !' एक ओर एक व्यक्ति कह रहा था और पीड़ितके साथीने देखा कि वह इस पागलका पुराना श्रद्धालु है ! सहसा पागलके पैर बढ़े, नेत्र खुले और सम्भवतः चीत्कार कानोंमें पड़ी। दोनों हाथ झुके और पीड़ित उन हाथोंके सहारे उठ खड़ा हुआ। कहाँ गयी पीड़ा ? बिच्छुओंने डंक सीधे कर लिये और भूमिमें टपककर इधर-उधर भागने लगे। घायलने दोनों हाथ ऊपर उठा लिये थे और अब तो सब-के-सब आत्मविस्मृत होकर हाथ उठाये पुकार-पुकारकर गा रहे थे—

श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीवृन्दावनचन्द्र।
जय जय राधे कृष्ण राधे कृष्ण राधे गोविन्द॥
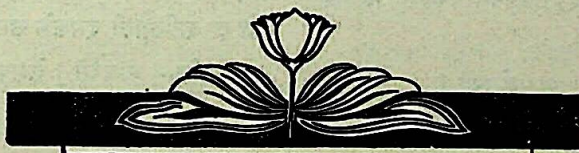
दानवीर

[एकाङ्की नाटक]

(लेखक—श्रीशिवशङ्करजी वाशिष्ठ)

पात्र-परिचय

श्रीकृष्ण—द्वारकाधीश भगवान्।
अर्जुन—पाँच पाण्डवोंमेंसे एक।
कर्ण—दुर्योधनके सेनापति अङ्गनरेश।

प्रथम दृश्य

[अस्ताचलकी ओर गमन करनेवाले भगवान् भास्करकी अन्तिम किरणें कुरुक्षेत्रकी विशाल रक्तरञ्जित भूमिपर पड़े हुए घायल योद्धाओंकी ओर दीनभावसे देख रही हैं। महादानवीय राज्य-लालसाकी युद्ध-आहुतिमें अनेक भारतीय वीरोंकी बलि हो चुकी है। महाभारतकी महाविनाशकारी ज्वाला भारतके कण-कणसे प्रज्वलित हो अन्तर्राष्ट्रीय प्रदेशोंतक अपना धुआँ पहुँचा चुकी है। युद्धका पंद्रहवाँ दिन बीत चला है। दिवाकरकी सुनहली किरणोंके साथ आजके युद्धकी इतिश्री हो चुकी है। दोनों पक्षोंके शेष योद्धा अपने-अपने शिविरोंमें रात्रि बिताने जा चुके हैं। कुरुक्षेत्रकी रक्त-वर्ण धरा नरमुण्डों, मानवीय लोथों, जर्जरित मृतपशुओं, अस्त-व्यस्त घायलों और कटे-छटे अस्त्र-शस्त्रोंकी उत्पादिका-सी बनी बीभत्स सृष्टिकी अवतारणा कर रही है। चारों ओर नीरवताका साम्राज्य छाया हुआ है। कभी श्वानोंके रोनेकी ध्वनि, सियारोंकी चीत्कार, चील और गिद्धोंके पंखोंकी फड़फड़ाहट एवं किसी घायल वीरकी कराह उस चहुँदिशिव्यापिनी नीरवताको भंग कर देती है। इसी समय अपने भारी पगचापोंको मुखरित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डव वीर अर्जुन बीभत्स सृष्टिके एक छोरसे आते दिखायी देते हैं।]

अर्जुन—केशव, कहाँ ले आये आप!

श्रीकृष्ण—भय लगता है?

अर्जुन—नहीं। जबतक अर्जुनके हाथोंमें गाण्डीव है और मधुसूदन उसके सहायक हैं, वह त्रैलोक्यमें किसीसे भी नहीं डरता।

श्रीकृष्ण—तब यहाँ आनेपर आश्चर्य क्यों?

अर्जुन—आश्चर्य नहीं, मधुसूदन खेद!

श्रीकृष्ण—खेद!

अर्जुन—हाँ, अपने प्रियजनोंकी इस अवस्थापर खेद ही तो होना चाहिये। ये हाथ पितामह भीष्मको बेध सकते हैं, गुरु द्रोणका सिर काट सकते हैं, महावीर कर्णको धराशायी बना सकते हैं और नेत्र उनका अवलोकन भी कर सकते हैं, किंतु यहाँका यह दृश्य ········मुझसे नहीं देखा जायगा। मधुसूदन! ········ नहीं देखा जायगा।

श्रीकृष्ण—भावनामें न बहो अर्जुन! भावनासे कर्तव्य श्रेष्ठ है। भूल गये गीताके वे अमूल्य वाक्य।

अर्जुन—याद हैं, और उसी प्रकार स्मृति-पटपर अङ्कित हैं जैसे आपके इस सेवकके गाण्डीवकी टङ्कोर शत्रुओंके कलेजेपर अपनी स्थायी छाप जमाये हुए है।

श्रीकृष्ण—फिर इस मोहका कारण?

अर्जुन—मोह! मोह, नहीं केशव! इस दृश्यको देखनेसे हृदयमें नाशवान् जीवनकी क्षणभङ्गुरताके प्रति विरक्तिका प्रादुर्भाव हो रहा है और अगर मैं इस वातावरणमें कुछ देर और रहा तो निस्सन्देह अपनी इस भावनापर विजय प्राप्त नहीं कर सकूँगा।

श्रीकृष्ण—[मन्द स्मितिसे] विरक्ति? तुम जिसे विरक्ति कह रहे हो पार्थ! वह चञ्चल प्रवृत्तिकी एक विकृत रूप-रेखा है, जो अपनी अनुकूल परिस्थितियोंमें हृदयमें स्थित सञ्चारी भावोंकी प्रेरणासे उद्बुद्ध होकर मानवीय विचारशृङ्खलाकी कड़ियोंको जर्जरित कर देती है और प्रतिकूल परिस्थितियाँ होते ही दामिनीकी दमकके समान स्वयं लुप्त हो जाती है।

अर्जुन—[आश्चर्यसे] केशव!

श्रीकृष्ण—हाँ, अर्जुन! आओ चलें।

अर्जुन—किंतु कहाँ··············।

श्रीकृष्ण—उस स्थानपर जहाँ महारथी दानवीर कर्ण-सरीखे

योद्धा क्षत-विक्षत अवस्थामें पड़े मृत्युका आवाहन कर रहे हैं।

अर्जुन—'महारथी !' 'दानवीर !' केशव ! आपके मुखसे ये शब्द कर्णके लिये शोभायमान नहीं प्रतीत होते।

श्रीकृष्ण—क्यों ? क्या तुम कर्णको महारथी नहीं समझते ? उनको दानवीर नहीं मानते।

अर्जुन—कर्ण महावीर हो सकते हैं; किंतु महारथी नहीं। दानवीर और वह भी शूद्रपुत्र, यह मैं स्वप्नमें भी नहीं सोच सकता केशव !

श्रीकृष्ण—तुम भूल रहे हो पार्थ ! कदाचित् तुमने युद्धमें कीचड़में धँसे रथके पहियेको निकालनेमें प्रयत्नशील, शस्त्रहीन कर्णको अपने तीव्र बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया। सम्भव है इसी अभिमानवश तुम उन्हें महारथी नहीं समझते; किंतु तुम्हें विदित नहीं कि कर्णको धराशायी बनानेमें अकेले तुमने ही नहीं, कुछ अन्य शक्तियोंने भी कार्य किया है और इन सबके बाद कर्णकी पराजयका मूल कारण है उनकी दानवीरता········।

अर्जुन—मुझे विश्वास नहीं होता।

श्रीकृष्ण—प्रत्यक्षको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। आओ धनञ्जय ! हम तुम्हें कर्णके महान् व्यक्तित्वका परिचय करायें।

[पटाक्षेप]

द्वितीय दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्रकी रक्तरञ्जित धरा।

समय—वही सायंकाल।

[दो साधुओंका प्रवेश]

अर्जुन—केशव ! इस वेषमें तो हमें माता कुन्ती भी नहीं पहचान सकतीं। बिल्कुल याचक जँच रहे हैं।

श्रीकृष्ण—हाँ अर्जुन ! सावधान ! वह देखो सामने अङ्गराज कर्ण पड़े हैं।

[कर्णके समीप जाते]

दोनों—अङ्गनरेशकी जय।

कर्ण—[दोनोंकी ओर देखते हुए क्षीण स्वरमें] आप ! आप कौन हैं महानुभावो ?

श्रीकृष्ण—हम याचक हैं।

कर्ण—[उठनेकी असफल चेष्टा करते हुए] धन्य भाग्य ! जीवनकी अन्तिम वेलामें भी कर्ण याचकोंके दर्शनसे कृतार्थ हुआ; किंतु आप यहाँ········इस वातावरणमें कैसे पधारे ?

अर्जुन—याचकोंका कार्य याचना करना होता है, समय-असमय देखना नहीं अङ्गराज ! आप अपनी दानशीलताके कारण देश-देशान्तरोंमें प्रसिद्ध हैं। अतएव कुछ पानेकी इच्छासे हमलोग समीपके ग्रामसे यहाँ चले आये। पता चला आप आजके युद्धमें आहत होकर कुरुक्षेत्रकी पवित्र भूमिमें पड़े हुए हैं। दानवीर कर्णके अन्तिम दर्शनोंकी लालसाको हम याचक न रोक सके, और इस युद्ध-भूमिमें भयानक दृश्यों-को देखते डरते-डराते हम आपतक आ ही पहुँचे।

कर्ण—[धीमे स्वरमें] अत्यन्त कृपा ! बोलिये इस स्थानपर मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।

श्रीकृष्ण—हमें जौ भर स्वर्ण चाहिये अङ्गनरेश !

कर्ण—स्वर्ण ! स्वर्ण यहाँ कहाँ याचक [कराहते हुए] यहाँ तो चारों ओर रुधिर········आप देख ही रहे हैं। आप मेरे मित्र दुर्योधनके पास चले जायँ, वहाँ आप जो कुछ चाहेंगे, जो माँगेंगे, वह सब आपको मिल जायगा।

श्रीकृष्ण—चिन्ता न करो अङ्गराज ! हम तो केवल आपके दर्शनोंके लिये आये थे। जब आपने हमारी इच्छा पूछी तो बतला दी; नहीं तो कोई याचनाकी बात नहीं थी। अब जौ भर स्वर्णके कारण कौन कौरव-शिविर जाये और व्यर्थ आपके मित्रोंको कष्ट दे।

अर्जुन—अच्छा आज्ञा अङ्गनरेश।

[चलनेका उपक्रम करते हैं]

कर्ण—ठहरो याचक, कर्णसे माँगनेवाला आजतक निराश नहीं लौटा, तुम भी नहीं लौटोगे। मैं अपने मुखके इस स्वर्ण-दन्तसे तुम्हारी याचना पूर्ण करूँगा।

[घूँसा मारकर दाँत तोड़ते हैं, मुखसे रुधिरकी तीव्र धार बह निकलती है]

कर्ण—[दाँत याचकोंकी ओर करते हुए] लो याचक ! कर्णके जन्मका यह अन्तिम चिह्न, अन्तिम वेलामें, अन्तिम बार कर्ण-के हाथसे ले लो·····आज मैं प्रसन्न हूँ·····अति प्रसन्न।

श्रीकृष्ण—छिः छिः राजन् ! बुद्धिमान् होकर यह मुखका जूँठा पदार्थ ब्राह्मणको दानमें देते हो। यदि देना ही है तो इसे जलसे धोकर शुद्ध करके दो।

कर्ण—जल·····जल भी नहीं····तब·····मैं······ मैं क्या करूँ ? बाणगङ्गा·····हाँ वही·····यही। याचक ! कष्ट

तो होगा, तनिक उधर पड़ा हुआ वह धनुष-बाण उठाकर मुझे दे सकते हो ।

श्रीकृष्ण—वह धनुष-बाण···नहीं राजन्! नहीं, वह समस्त रुधिरमें सना पड़ा है । हम उसे स्पर्श कर अपने हाथोंको दूषित नहीं करेंगे ।

कर्ण—अच्छा ! तुम अपने हाथोंको दूषित न करो । कर्ण स्वयं उठा लेगा ।

[भूमिपर घिसटते हुए जाकर धनुष-बाण उठाते हैं और एक हाथसे धनुष पकड़कर दूसरेसे बाण धन्वापर चढ़ाकर, जोरसे पृथ्वी-तलपर मारते हैं । एक तीव्र जलधार निकलती है । उस स्वर्णदन्तको कर्ण उसमें धोकर याचकोंकी ओर बढ़ाते हैं]

कर्ण—लो याचक ! तुम्हारी याचना पूरी हुई ।

अर्जुन—हाँ, कर्ण ! हमारी याचना पूर्ण हुई और साथ ही तुम्हारे प्रति मेरे अविश्वासकी कालिमा भी धुल गयी ।

कर्ण—[आश्चर्यसे] कौन ? तुम अर्जुन और······तुम··· तुम श्रीकृष्ण ! [नमस्कार करता है]

श्रीकृष्ण—हाँ कर्ण ! हम अर्जुनको तुम्हारी पवित्र शूरता और दानवीरताका आदर्श दिखलाने लाये थे । धन्य हो तुम और धन्य है मातृ वसुन्धरा, जिसके अङ्कमें तुम-जैसे दानवीरका जन्म हुआ ।

[श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णकी ओर विह्वलदृष्टिसे देखते हैं और तभी अन्धकारमयी निशाका प्रथम तारा टूटकर उत्तरकी ओर गिरता है]

[पटाक्षेप]

चातक चतुर राम स्याम घनके

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

[गताङ्कसे आगे]

(८)

त्याग-वैराग्य

श्रीलक्ष्मणजीके इस प्रेमकी एकमेकताका कारण है उनका अद्भुत वैराग्य । श्रीगोस्वामीजीने वैराग्यका महत्त्व बतलानेके लिये उसे 'ढाल' की उपमा दी है ।

ईस भजनु सारथी सुजाना । बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥
बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि ॥

आक्रमणकारी अपने शत्रुको तलवार किंवा बाणोंसे क्षत-विक्षत कर सर्वथा रक्तहीन कर देना चाहता है; क्योंकि वह जानता है कि रक्त ही जीवनीशक्तिको स्थिर रखनेवाला है । ठीक ऐसा ही एक संग्राम मनुष्यके अन्तःकरणमें भी होता रहता है । प्रत्येक जीवके हृदयमें एक जीवनीशक्ति है, जिसका नाम है प्रेम । पर काम, क्रोध, लोभादि विकार उसके इस दिव्य रसको नष्ट कर देते हैं । जिसका फल होता है पीड़ा और मृत्यु । कहनेका अभिप्राय यह कि ये घोर शत्रु विषयोंका सौन्दर्यमय स्वाँग सजाकर उसके प्रेमको हिस्से-हिस्से-में बाँट लेते हैं और तब वह रह जाता है जीवित होते हुए भी एक नरकङ्कालमात्र । न जिसमें गति है, न आनन्द । प्राचीन युद्धकलामें इसी दृष्टिसे कवच और ढालका बड़ा महत्त्व था । प्रेमरूप इस जीवनरक्तकी रक्षा करनेके लिये भी वैराग्य-चर्मकी बड़ी आवश्यकता है । वैराग्यकी पूर्णताके बिना कोई पूर्ण प्रेमी भी नहीं बन सकता । पर वह वैराग्य है क्या ? इसके लिये भी दूर जानेकी आवश्यकता नहीं ।

भगवान् श्रीराघवेन्द्रने पूर्ण वैराग्यकी परिभाषा करते हुए कहा है—

'सच्चा वैराग्यवान् वही है जो समग्र सिद्धियों और सत्त्व, रज, तम सिद्धियोंके साथ ही—इन तीनों गुणोंका भी सर्वथा परित्याग कर दे ।'

कहिअ तात सो परम बिरागी । तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ॥

यह परिभाषा भी एक ऐसे सच्चे अधिकारीके सामने की गयी थी, जो वैराग्यका मूर्तिमान् स्वरूप था । यह वैराग्य वस्तुतः योगकथित चार प्रकारके वैराग्योंसे भी उच्चतम है । निश्चित रूपसे वैराग्यके इस मूर्तिमान् स्वरूपको देखकर ही प्रभुको ऐसी कठिन परिभाषा करनेमें कोई संकोच नहीं हुआ । मानस-प्रेमियोंसे यह बात छिपी नहीं कि श्रीराघवेन्द्रने यह उपदेश महाव्रती श्रीलक्ष्मणजीको किया था ।

कविने तो श्रीलक्ष्मणजीको मूर्तिमान् वैराग्यकी उपमा दी ही है ।

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ॥

यह ध्यान रहे कि वैराग्य मानस धर्म है पर उसके साथ 'त्याग'का हो जाना तो मणि-काञ्चन-संयोग है।

श्रीलक्ष्मणजीमें त्याग, वैराग्य दोनों ही सूर्यके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं! पर वह प्रकाश इतना तीक्ष्ण है कि उसके सामने साधारण व्यक्तियोंकी ही नहीं, बड़े-बड़े लोगोंकी दृष्टि भी मुँद जाती है और वे उसकी तिलमिलाहटसे घबड़ाकर उसके विषयमें कुछ भी कह सकनेमें असमर्थ हो जाते हैं। प्रभु बड़ी ही कवितामयी भाषामें वसन्तका वर्णन करते हुए एक ही शब्दमें श्रीलखनलालजीके उस महान् वैराग्यकी ओर संकेत करते हैं। श्रीकिशोरीजीके हरणके पश्चात् ही वसन्त-ऋतु-का आगमन हुआ। वसन्त-ऋतुके आगमनसे वनकी अद्भुत शोभा हो गयी। पर यह वनश्री प्रभुके वियोगव्यथित हृदय-को कष्ट ही पहुँचानेवाली थी। उन्हें तो ऐसा लग रहा था कि मानो 'काम' उन्हें बलहीन जानकर अपने प्रिय मित्र वसन्त-की सहायतासे जीत लेना चाहता है। उन प्रभुने कहा कि इतनी विशाल वाहिनी होनेपर भी वह मुझपर आक्रमण नहीं कर रहा है। इसका एकमात्र कारण है तुम्हारी उपस्थिति—

> बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
> सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल॥

परंतु—

> देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात।
> डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात॥

इस 'भ्राता सहित' शब्दके प्रयोगकी जितनी अधिक प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इस नन्हे-से शब्दमें प्रभुने मानो बड़े ही रहस्यपूर्णरूपमें श्रीलक्ष्मणजीकी स्तुति की है, 'भैया! तुम धन्य हो, मैं तो श्रीकिशोरीजीके कुछ दिनोंके वियोगसे ही व्यथित और बलहीन हो रहा हूँ। विवेक साथ छोड़े दे रहा है। प्रत्येक वस्तु उनकी स्मृतिका कारण बन रही है। पर अहा! तुम्हारा हृदय कैसा विलक्षण है जो परम पतिव्रता उर्मिलाके वियोगमें इतने दिन बिता देनेपर भी स्वप्नमें भी वियोगकातर नहीं होता—दुखी नहीं होता। सच है तुम-जैसे महावैराग्यवान्को देखकर क्यों न 'काम' भयभीत हो! वनस्थलीकी यह दिव्य शोभा, जिसको देखकर महामुनियोंका हृदय भी क्षुब्ध हो जाता है, तुमपर रंचमात्र भी प्रभाव नहीं डाल सकी। भैया! तुम्हें देखकर मुझे अपने ऊपर लज्जा आती है। निश्चित मानो, यदि मैं अकेला होता तो मुझे काम सर्वथा बन्दी बना लेता। पर तुम्हारी उपस्थितिसे मैं सतत सावधान हूँ।'

श्रीलक्ष्मणजीकी थी भी यह अप्रतिम विलक्षणता, जिसका निर्देश करते हुए कविने कहा है—

> छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
> करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु॥

वास्तवमें ही श्रीलक्ष्मणजीने प्रभुकी सेवामें अपने-आपको सर्वथा भुला दिया! प्रभुकी सेवा ही उनका जीवन था। उसीके लिये वे सदा-सर्वदा सर्वत्याग करनेको प्रस्तुत थे।

लङ्काके रणाङ्गणमें एक ऐसा अवसर आ गया जब श्री-राघवेन्द्रका विरद नष्ट हुआ जा रहा था, उस समय यदि किसीने उसकी रक्षा की तो महात्यागी लक्ष्मणने अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर की।

क्षत-विक्षत मेघनादने सारे अनर्थोंकी जड़ विभीषणको ही जान, उनके वधमें कृतसंकल्प हो ब्रह्मप्रदत्त शक्ति उठायी। वह अमोघ शक्ति साक्षात् महाकालके रूपमें विभीषणकी ओर चली, त्रैलोक्य काँप उठा। साथ ही वानरोंकी विशाल वाहिनी भी। लोगोंको निश्चय था आज विभीषणके प्राण बच नहीं सकते। तो क्या प्रभुका शरणागत-रक्षक विरद आज नष्ट हो जायगा? उनकी वह प्रतिज्ञा, जिसमें उन्होंने 'रखिहौं ताहि प्रान की नाईं' का आश्वासन दिया था, झूठा सिद्ध होगा? चारों ओर निराशाका वातावरण था; पर इस तूफानमें भी, इस भयानक अंधड़में भी एक ज्योति थी, एक प्रकाश था, जो अडिग अटल था और सर्वदा जाज्वल्य-मान था, वह थे श्रीलक्ष्मण। इन्हें अपना कर्तव्य निर्णय करनेमें देर न लगी। प्राण प्रभुकी प्रणरक्षामें लग जायँ यह उनके लिये अत्यधिक प्रसन्नताका कारण था। लोगोंकी आँखें भयसे मुँद गयीं। कुछ क्षण पश्चात् ही लोगोंने नेत्र खोलकर देखा विभीषण तो उसी प्रकार खड़े हैं। तो क्या वह अमोघ शक्ति आज व्यर्थ हो गयी? पर इसी क्षण दृष्टि पड़ी श्रीलक्ष्मणके निर्जीव शरीरपर। मस्तक श्रद्धासे झुक गया, आँखें बरस पड़ीं! शरीर पड़ा था पर रामकी यश-पताका लङ्काके रणाङ्गणमें शत्रुओंको धर्षित करती हुई फहरा रही थी। श्रीलक्ष्मणका शरीर मेघनादको चुनौती दे रहा था। उनके मुखपर कान्ति और प्रसन्नता लहरा रही थी। आजके युद्धमें विजयी कौन हुआ? मेघनाद। नहीं-नहीं, वह तो असफल रहा। आजकी विजयश्री तो प्रत्यक्ष ही श्रीलक्ष्मणजीके पाँव पलोट रही थी।

पर जिस समय उनका वह शरीर प्रभुके निकट पहुँचाया गया, प्रभुका हृदय उमड़ पड़ा। आँखोंसे अनवरत अश्रु-

प्रवाह होने लगा। 'लक्ष्मण! तुमने यह क्या किया! वत्स! मेरे लाल! तुम मुझे इस प्रकार अकेला छोड़कर कहाँ चले गये। तुम नहीं जानते लक्ष्मण! तुम्हारे इस महात्यागसे मेरे विरदकी रक्षा अवश्य हुई, पर तुम्हें छोड़कर मैं विरद लेकर क्या करूँगा। क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे न रहनेसे केवल एक भाईका अभाव रामको होगा? नहीं, भैया! आज संसारसे भायप और भक्ति अस्त हो गयीं।' इतना कहते-कहते प्रभु उन्मादग्रस्त-से हो गये। महाधीर राम अपनी धीरता खो बैठे। गोस्वामीजीने गीतावलीमें प्रभुकी इस करुण अवस्थाका बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है—

राम लषन उर लाय लए हैं।
मेरे नीर राजीवनयन सब अँग परिताप तए हैं॥
कहत ससोक बिसोकि बंधु मुख बचन प्रीति गुथए हैं।
सेवक-सखा भगति भायप गुन चाहत अब अथए हैं॥
निज कीरति करतूति तात तुम सुकृती सकल जए हैं।
मैं तुम्ह बिनु तनु राखि लोक अपने अपलोक लए हैं॥
मेरे पनकी लाज इहाँ लौं हठि प्रिय प्रान दए हैं।
लागति साँगि बिभीषन ही पर सीपर आपु भए हैं॥
सुनि प्रभु बचन भालु कपि गन सुर सोच सुखाइ गए हैं।
तुलसी आइ पवनसुत बिधि मानो फिरि निरमये नए हैं॥

श्रीहनुमान्‌जीके आश्वासनसे प्रभु कुछ शान्त हुए और महावीर सुषेणके आज्ञानुसार ओषधि लेनेके लिये द्रोणाचल-पर्वतकी ओर गये। मार्गगत अनेक बाधाओंके कारण अर्ध-रात्रि व्यतीत हो जानेपर ओषधि लेकर न लौट सके। प्रभुकी अधीरता चरम सीमापर पहुँच गयी। श्रीलक्ष्मणजीके शरीरको हृदयसे लगाकर वे अपने अश्रुप्रवाहसे लक्ष्मणके वक्षःस्थलको आर्द्र करने लगे। हा लक्ष्मण! तुमने मेरे लिये कितना त्याग किया। माता-पिताको छोड़कर भीषण वन-वन भटके। वर्षा-ग्रीष्ममें जल और लूको सहन कर भी तुम सदा प्रसन्न रहे। भैया! तुम तो मुझे उदास देख ही नहीं सकते थे। आज तुम ऐसे निष्ठुर कैसे हो गये। लाल! मेरे मुखकी ओर देखो। मैं कौन-सा मुख लेकर अयोध्या लौटूँगा। मैं क्या जानता था कि मर्यादापालनके लिये तुम्हारा बलिदान करना होगा। मैं तुम्हें खोकर पितृ-भक्त नहीं बनना चाहता। यदि मुझे यह ज्ञात होता कि वनमें तुम्हारा वियोग होगा तो चौदह वर्षकी तो बात क्या, चार दिनके लिये भी वन न आता।

उपर्युक्त वाक्योंको पढ़कर किस सहृदय व्यक्तिका हृदय न रो उठेगा? यह विह्वलता, इतनी विकलता, यह उन्माद! सचमुच ही लक्ष्मण ही तो प्रभुके सर्वस्व थे, उन्हें खोकर प्रभुकी ऐसी अवस्था आश्चर्यजनक नहीं! लक्ष्मणजीके महान् त्यागको दृष्टिगत रखकर ही कौशल्या अम्बाने श्रीलक्ष्मणजीकी मूर्छाका दुःखद समाचार सुनकर श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा राघवेन्द्रको यह संदेश कहलवाया था कि "भैया! रामसे भेंट करके कहना कि तुम्हारी कठोरहृदया जननीने कहलवाया है कि 'हे लाल! तुम्हारा नाम ललित लाल लक्ष्मणके सहित ही सुन्दर मालूम होता है।' (अतः तुम लक्ष्मणको साथ लेकर ही आना।)

भेंट कहि कहिबो कह्यो यों कठिन-मानस माय।
लाल! लोने लषन-सहित सुललित लागत नाँय॥

लक्ष्मण नामके साथ रामनाम शोभित होता है। निदान औषध पाकर जब लक्ष्मणजी उत्थित हुए, प्रभुकी प्रसन्नताका क्या ठिकाना। उस समयके दोनों भाइयोंका मिलन अद्वितीय था। सारा मन, बुद्धि चित्तको विस्मृतकर इस आनन्दसमुद्रमें निमग्न हो गया। दोनोंके नेत्रोंसे होनेवाला जलप्रवाह एक-दूसरेको भिगो रहा था, साथ ही सारी वानर-वाहिनीको भी। पर उसी समय सुग्रीवने आकर लक्ष्मणजीसे प्रश्न किया—'भैया! आपको शक्तिसे कितनी पीड़ा हुई इसे बताओ तो?' लक्ष्मणजीने प्रभुकी ओर इङ्गित करते हुए कहा—'इनसे पूछो।' 'पर शक्ति तो आपको लगी थी।' सुग्रीवने आश्चर्यचकित हो पूछा। ठीक है शक्ति मुझे लगी, पर पीड़ा तो इनको ही हुई—

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन, जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराय सरीरै॥
मोहि कहा बूझत पुनि पुनि, जैसे पाठ-अरथ-चरचा कीरै।
सोभा-सुख, छति-लाहु, भूप कहँ, केवल कांति-मोल हीरै॥
तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै।
उपमा राम-लषनकी प्रीतिकी क्यों दीजै छीरै-नीरै॥

उपर्युक्त पद तो उस दिव्य अनुभूतिका एक छायाचित्र है पर यही आत्मविस्मृत करानेके लिये यथेष्ट है। आज समझा सुग्रीवने राम-लक्ष्मणकी एकमेकताको। दो दीखनेपर भी वे सर्वथा एक हैं; क्योंकि लक्ष्मणने प्रभुके लिये संसारके बीचवाले व्यवधानोंको ही नहीं नष्ट कर दिया, अपितु अन्नमय, प्राणमय आदि समस्त पञ्चकोषोंका सर्वथा त्याग कर प्रभुके और अपने बीचकी दूरीको समाप्त कर दिया और इसीसे वे समर्थ हुए हैं उस कठिन सेवाव्रतमें भी जो दूसरोंके लिये असम्भव है। श्रीसीतात्याग-जैसी निर्मम घटना, जो आज भी

आक्षेपका विषय बनायी जाती है, श्रीलक्ष्मणको छोड़ अन्य किसीके द्वारा कभी भी सम्भव न थी। कार्य बड़ा कठोर था, सभी जानते थे अम्बा निर्दोष है, श्रीलक्ष्मण तो विशेष रूपसे जानते थे। पर वह तो लोकरञ्जन रामके यशका प्रश्न था। उसे करना था किसी भी मूल्यपर। उस समय श्रीलक्ष्मणको जो पीड़ा हुई वह अवर्णनीय है। पर वे अनन्यव्रती उस कठिन कार्यको भी पूरा कर ही देते हैं। अनुतापसे तप्त होते हुए भी। गोस्वामीजीने गीतावलीके पदोंमें उस स्थिति-का बड़ा ही मार्मिक चित्र अङ्कित किया है।

जिस समय प्रभु यह आज्ञा देते हैं—

तात ! तुरतहि साजि स्यंदन सीय लेहु चढ़ाइ।
बालमीकि मुनीस आस्रम आइयहु पहुँचाइ॥

इस कठोर आज्ञाको सुन श्रीलक्ष्मणने कोई ननु-नच नहीं किया। उनके मुखसे 'भलेहि नाथ' शब्द ही निकला और कुछ नहीं।

'भलेहि नाथ' सुहाथ माथे राखि राम रजाइ।
चले तुलसी पालि सेवक धरम अवधि अघाइ॥

श्रीलक्ष्मणजी-जैसे खड्गधाराव्रतीको छोड़ इस कार्य-को कौन सम्पन्न करता ? कौन था दूसरा जो इस आज्ञाको सुन 'भलेहि-नाथ' कहता !

यह तो उनके यशसागरके लवलेशका किञ्चित् छाया-चित्रमात्र है। प्रभु और श्रीलक्ष्मणका प्रेम अवर्णनीय है। प्रभु तो प्रेमकनौड़े हैं। श्रीलक्ष्मणजीको अपने दूसरे अवतारमें केवल अपना बड़ा भाई ही नहीं बनाया अपितु नाम (बलराम) देकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की।

श्रीलक्ष्मणजी चातक-निष्ठावाले भक्तोंके आचार्य हैं, चातकोंमें भी चतुर चातक हैं। उनका चरित्र निष्कलङ्क और देदीप्यमान सूर्यके सदृश प्रकाशित है। उनके समग्र गुणोंका वर्णन मुझ-जैसे तुच्छ व्यक्तिके लिये कहाँ सम्भव है। प्रभु भी उनकी गुणावलीका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। जानकर भी नहीं कहते; क्योंकि वह तो उन्हें आत्मप्रशंसा-सी प्रतीत होती है।

महाभाग श्रीलक्ष्मणके चरणोंमें प्रणिपात करते हुए हम प्रार्थना करते हैं कि उस प्रेमका लवलेशमात्र प्रदान कर हम सबको कृतार्थ करें।

अन्तमें गोस्वामीजीके इन शब्दोंसे इस लेखको समाप्त किया जाता है।

लाल लाड़िले लखन हित हौ जनके।
सुमिरे संकटहारी सकल सुमंगलकारी पालक कृपालु आपने मनके ॥१॥
धरनी धरन हार भंजन भुवन भार अवतार साहसी सहसफनके ॥२॥
सत्यसंध सत्यव्रत परमधरमरत निरमल करम बचन अरु मनके ॥३॥
रूपके निधान धनु बान पानि तून कटि महाबीर बिदित जितैया बड़े रनके ॥४॥
सेवक सुखदायक सबल सब लायक गायक जानकीनाथ गुन गनके ॥५॥
भावते भरतके सुमित्रा सीताके दुलारे चातक चतुर राम स्याम घनके ॥६॥
बल्लभ उरमिलाके सहज सनेह बस धनी धन तुलसी-से निरधनके ॥७॥

जगदम्बासे

मेरे पुण्य अनेक जन्मके प्रकट हुए हैं आज।
कलुषित कलुष राशिपर निश्चय अभी गिरेगी गाज॥
मनकी व्यथा-कथा कहने मैं आया तेरे पास।
सुनते ही कामादिक रिपुदल हुए उदास निराश॥
यह असार संसार प्यार-रिस मार रहा है नित्य।
देख रहे हैं खुले नयनसे निशि-दिन चन्द्रादित्य॥
वायुदेव बहते जाते हैं देख रहे सब मौन।
रो-रोकर मैं रह जाता हूँ सुननेवाला कौन ?॥
मा करुणामयि ! कृपा करो तुम इस शिशुपर इस काल।
युगल करोंकी शीतल छाया आह ! काल विकराल॥
मिटें दोष, दुर्भाग्य, तापत्रय, हो चरणोंमें नेह।
शाश्वत शान्ति, समुज्ज्वल श्रद्धा, सार्थक जीवन-देह॥

—शिवनाथ दुबे

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

वास्तवमें मनुष्यको गिरानेवाला तो अपना मन ही है, अतः उसको वशमें करके भगवान्‌में लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये; फिर गिरानेवाला कोई नहीं रह जायगा। संसारकी वस्तुएँ अच्छी न लगनेसे कोई हानि नहीं, बल्कि लाभ है। भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना चाहिये। 'मैं' और 'मेरा' शब्द बोलनेमें कोई हर्ज नहीं है, वास्तवमें संसारसे मेरापन और शरीरसे 'मैं' भाव निकालनेकी जरूरत है, अतः इसीके लिये कोशिश होनी चाहिये।

आप मेरा सङ्ग चाहते हैं, यह आपके प्रेमकी बात है। धन कमानेकी तजवीज लगनी-न-लगनी प्रारब्धाधीन है, चेष्टा रखनी चाहिये; फिर जो कुछ हो, उसीमें ईश्वरकी दया समझकर निरन्तर प्रसन्न रहना चाहिये। चिन्तासे अवश्य स्वास्थ्य बिगड़ता है, अतः चिन्ता नहीं करनी चाहिये। सोते समय भगवान्‌को याद करते-करते सोनेका अभ्यास डालना चाहिये; ऐसा करनेसे बुरे स्वप्न आने बंद हो सकते हैं। जिह्वासे जप करना भी बहुत अच्छा है, पर श्वासके साथ जपका अभ्यास डालनेसे और भी सुगमता मिल सकती है। जप करते समय मनसे भगवान्‌को याद रखनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। इसकी बहुत आवश्यकता है।

भोजनमें जो संयम किया गया हो, उसको प्रकट किये बिना नियमोंका पालन करनेमें कठिनाई मालूम पड़ती हो तो ऐसे मौकेपर बहुत नम्रताके साथ नियम बतला देनेमें कोई हानि नहीं है। दूसरोंका अन्न न खानेकी इच्छा रखना अच्छा है, पर कहीं उनको दुःख होता हो तो उनकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार कर लेनेमें आपत्ति भी नहीं है।

दूसरोंके सामने भजन-साधन आदि प्रकट न करना ही उसे गुप्त रखना है—इसमें न समझनेकी क्या बात है।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। श्री·······के पत्रमें आपका समाचार मिला। आपके पिताजीका देहान्त अचानक हो गया सो लौकिक हिसाबसे चिन्ताकी बात है। पर चिन्ता करनेसे कोई लाभ नहीं। शरीर नाशवान् है, इसका नाश एक दिन अवश्य होता है। वियोग होना निश्चित है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य इस विषयमें चिन्ता नहीं किया करते। आप स्वयं समझदार हैं। आपको भी धैर्य रखना चाहिये। साथ ही इस प्रकारकी मृत्युसे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि शरीरका कुछ भरोसा नहीं है; अतः मनुष्य-जीवनको जितना शीघ्र हो सके, सफल बना लेना चाहिये। संसारके भोगोंमें तो लेशमात्र भी शान्ति नहीं है। शान्ति केवल ईश्वर-कृपासे ही मिल सकती है। अतः भजन, ध्यान, सेवा और सत्संगके द्वारा भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

नियमोंके लिये पूछा सो सत्यका विशेष अभ्यास डालना चाहिये। हँसीमें भी कभी झूठ न बोला जाय, किसीके साथ व्यवहारमें कपट न किया जाय, किसीको कष्ट न दिया जाय, दूसरेके हकपर अपना अधिकार जमानेकी चेष्टा या इच्छा कभी न हो, पर-स्त्रीको माता और बहिनके सदृश समझकर मनमें कभी भी बुरा संकल्प न आने दिया जाय, ब्रह्मचर्यका पालन हो, धन आदि पदार्थोंमें ममता उठानेका अभ्यास किया जाय तथा नियमपूर्वक भगवान्‌के नामका जप, उनका स्मरण और सन्ध्या-वन्दन आदि किये जायँ—ये सब नियम सब प्रकारसे हितकर हैं। भगवान्‌को निरन्तर याद रखना—मनुष्य-शरीरका प्रधान कर्तव्य है। अतः इसकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। प्रतिदिन नियमपूर्वक

जप, ध्यान करनेका निश्चित समय तो रखना ही चाहिये। इसके सिवा व्यापार आदि दूसरे सांसारिक कार्य भी निरन्तर भगवान्‌को याद रखते हुए ही करनेका अभ्यास डालना चाहिये।

पिताका देहान्त होनेके बाद पुत्रका कर्तव्य पूछा सो संसारके व्यवहारके अनुसार श्राद्ध आदि कृत्य समय-पर किये ही जाते हैं, उनके सिवा भगवान्‌से उनको शान्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। पुत्रकी बुराइयोंसे पिताकी भी निन्दा होती है—इस बातको खयालमें रखकर अपनेको सदाचारी बनाये रखनेकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। मुख्य-मुख्य नियम ऊपर लिखे ही गये हैं, विस्तार देखना हो तो 'तत्त्व-चिन्तामणि' के लेखोंमें देख सकते हैं।

(३)

आपका पत्र यथासमय मिल गया था। विलम्बके लिये क्षमा करें। आपकी शङ्काओंका उत्तर नीचे क्रमशः लिखा जा रहा है—

आपने लिखा कि 'जो बच्चा खिलौनेको फेंककर मा-माकी चिल्लाहट लगा देता है, चाहे वह कैसा ही हो, माता उसे गोदमें उठा लेती है; इसी प्रकार परमात्माके लिये कोई न जी सकनेकी अवस्थामें आ जाय तो भगवान् उसे अवश्य ही मिलेंगे।' सो ठीक है। परमात्माको पुकारनेकी आवश्यकता है; परंतु इससे यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिये कि मानव-जीवन प्राप्त करके भगवान्‌के दर्शन बिना प्राणधारण करना भगवत्प्रेम नहीं है। वह भगवत्प्रेम अवश्य है; किंतु अनन्य प्रेम नहीं है। और अनन्य प्रेमका यह भी आशय नहीं निकालना चाहिये कि भगवान्‌के लिये हठपूर्वक प्राणोंका त्याग कर दिया जाय। यदि प्रेमके कारण ऐसी परिस्थिति हो जाय कि वह भगवान्‌के बिना जीवित ही न रह सके तो यह अनन्यप्रेम है, क्योंकि इस प्रेममें न बनावट है और न हठ ही। आपने लिखा कि 'जो मोहि राम लागते मीठे। तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।' सो ठीक है, जिसकी ऐसी अवस्था हो जाती है, वास्तवमें वही अनन्यप्रेमी है।

आपने पूछा कि 'संसारमें देखा जाता है कि स्वार्थ-साधक आत्मीय स्वजनोंके मरनेसे हमको इतना अधिक दुःख होता है कि खाना-पीना भी छूट जाता है और कितने ही मर भी जाते हैं तो फिर जो हमारे सर्वस्व हैं, उन भगवान्‌के वियोगमें हम कैसे प्रसन्न रहें या जीवित रहें?' सो ज्ञात हुआ। भगवत्प्रेमके कारण यदि खाना-पीना आदि भूल जाय तो कोई बात नहीं, परंतु जान-बूझकर ऐसा करके प्राण-त्याग करना उचित नहीं है। परमात्माके नामका जप, ध्यान और सत्संग करके अथवा प्रभुकी अलौकिक दयाको याद करके प्रसन्न रहना अनुचित नहीं, परंतु उनके वियोगमें सांसारिक भोगोंमें लिप्त होकर प्रसन्न रहना कदापि उचित नहीं है।

'मानव-देह भगवद्भजनके लिये ही मिलता है, अतः यदि भजन करनेमें असमर्थ हो तो उस धरोहरको प्राण-त्यागद्वारा भगवान्‌को ही लौटा देना अच्छा है'—ऐसा लिखा सो यह ठीक नहीं। मनुष्य-शरीर भगवान्‌के भजनके लिये ही मिला है, यह बात बहुत ठीक है। पर यदि भजन न बने तो हठपूर्वक प्राणत्याग करना उचित नहीं, बल्कि उनकी वस्तुको उन्हींके काम—भजन-ध्यान आदिमें लगानेकी विशेष कोशिश करनी चाहिये। हठपूर्वक शरीरका त्याग कर देना उनके अर्पण करना नहीं है।

आपने लिखा कि 'भगवान्‌के भोग लगाकर उनका जूँठन ही खाकर जीना उचित है और भगवान् भक्तद्वारा अर्पित भोजनको स्वयं प्रकट होकर खाते हैं—इस सत्यपर विश्वास होते हुए भी उन्हें साक्षात् न खिलाकर प्रतिमाके भोग लगाकर सन्तोष कर लेना प्रेमहीनता है। भोजनके बिना वह मर नहीं जायगा; क्योंकि मृत्युसे बचानेकी शक्ति भोजनमें नहीं, भगवान्‌में है।' सो मालूम किया। साक्षात् भगवान्‌के भोग लगाकर भोजन करना अत्युत्तम

है; किंतु जबतक हम उनके साक्षात् दर्शनके पात्र न बन सकें तबतक उनकी मूर्तिके ही भोग लगाकर भोजन करनेमें सन्तोष करना भी बुरी बात नहीं है। हमलोग भगवान्‌के साक्षात् दर्शन करके भोग नहीं लगा सकते, इसमें हमारे प्रेम और श्रद्धाकी कमी अवश्य है, इसके लिये हमें पश्चात्ताप अवश्य करना चाहिये और इस त्रुटिकी पूर्तिके लिये कोशिश भी अवश्य करनी चाहिये, पर हठसे मर जाना उचित नहीं। शरीर प्रारब्धाधीन है, भोजनके अधीन नहीं है। माना कि परमात्माके अधीन है तो भी हम इसके लिये परमात्माका सहारा क्यों लें? शरीर प्रारब्धाधीन है, भोजन तो निमित्तमात्र ही है।

'नामदेवजीने हठपूर्वक भगवान्‌को दूध पिलाकर प्रसन्नता प्राप्त कर ली' लिखा सो कहीं-कहीं अनन्य-प्रेममें ऐसा हो जाता है, पर इस उदाहरणसे हमलोगोंको उनकी देखादेखी ऐसा अनुकरण करना उचित नहीं, क्योंकि वह विधिवाक्य नहीं है।

आपने पूछा—'जो बड़भागी भगवान्‌की सदा ही प्रसन्नता प्राप्त किये रहते हैं, उनके लिये तो ऐसा हठ करना उचित नहीं, परंतु जो लोग भगवदाज्ञानुसार चलनेमें काम-क्रोधादिके कारण अयोग्य हों, उन्हें योग्यताप्राप्तिके लिये हठसे भी भगवत्प्राप्ति करना कैसे अनुचित है?' सो ठीक है, किंतु काम-क्रोधादिके वशमें होनेके कारण भगवदाज्ञाका पालन नहीं हो सकता तो हठपूर्वक काम-क्रोध आदिको नष्ट करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जिसका दोष हो, उसे ही दण्ड देना चाहिये, शरीर और प्राणको नहीं।

सेवाकुञ्जमें रात्रिमें हठपूर्वक रहनेसे एक ब्राह्मणको भगवान्‌के दर्शन होनेकी बात लिखी सो इस विषयमें आपको विश्वास हो तो आप भी रह सकते हैं। लोग वहाँ रहनेसे जो मरनेका भय बतलाते हैं सो हमें तो वह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। और यदि कोई मर भी जाता होगा तो अपने भयसे मर जाता होगा—हमारा तो ऐसा विश्वास है। वहाँ—सेवाकुञ्जमें रहनेसे भगवान् मिलते हैं या नहीं—यह मुझे मालूम नहीं।

आपने 'आत्मसमर्पण बिना भक्ति पूरी नहीं होती तो फिर इसे ही पहले करके भगवत्प्राप्ति क्यों न कर ली जाय?'—लिखा सो ठीक है। आत्मसमर्पण करनेसे भगवत्प्राप्ति अवश्य होती है; परंतु भगवान्‌के लिये मर जाना आत्मसमर्पण नहीं है। अपना तन, मन, धन—सर्वस्व ईश्वरके काममें लगा देना और उनके काममें लगनेसे ही प्रसन्न रहना आत्मसमर्पण है, प्राणोंका हठ-पूर्वक त्याग करना नहीं।

'महात्मा कबीरने प्राणोंका उत्सर्ग ही प्रेमकी कसौटी माना' लिखा सो ठीक है, उनका इससे क्या आशय था सो तो वे ही जानें, पर हमलोगोंको तो इससे यह सार ग्रहण करना चाहिये कि भगवत्प्राप्तिके लिये प्राणपर्यन्त कोशिश करनेमें नहीं चूकना चाहिये; न कि वास्तवमें उसे निमित्त बनाकर हठपूर्वक प्राणोंको दे डालना चाहिये।

'नाम-जपके फलसे वञ्चित रखनेवाला कौन-सा महादोष है—' पूछा सो नाम-जपके फलसे वञ्चित रखने-वाला तो कोई दोष नहीं है। फल तो अवश्य होता ही है, चाहे वह इस लोकमें प्राप्त हो या परलोकमें; नाम-जपके फलका कभी नाश हो ही नहीं सकता। हाँ, यह बात जरूर है कि श्रद्धा और प्रेमकी जितनी कमी होती है, उतना फल भी कम मिलता है। अधिक हो तो अधिक मिलता है। वाल्मीकिजी उल्टा नाम-जप करके तर गये, गणिका वेश्या नाम लेकर तर गयी सो उनका भगवान्‌में प्रेम और विश्वास था। आपने जो यह लिखा कि मुझे तो श्रद्धाकी कमी ही प्रधान बाधा मालूम होती है सो ठीक है; जितनी श्रद्धा होती है, उतना ही प्रेम भी स्वाभाविक ही हो जाता है। पूर्वमें कोई चाहे कैसा भी क्यों न हो, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप करनेसे सम्पूर्ण बाधाएँ मिटकर वह धर्मात्मा हो सकता है। पाप नाम-जपके फलमें बाधक नहीं हैं, परंतु जपकी वृद्धिमें अवश्य

कुछ बाधक हैं; परंतु प्रेमपूर्वक जप करनेसे यह बाधा मिट सकती है, जैसे कि वाल्मीकिजी और गणिकाकी जपमें श्रद्धा-प्रेम होनेसे समस्त बाधाएँ मिट गयीं। कुमारिल भट्टमें भी श्रद्धा और प्रेम दोनों ही थे; क्योंकि जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ प्रेम भी होता ही है, यह नियम है; किंतु जहाँ प्रेम होता है, वहाँ श्रद्धा होनेका कोई नियम नहीं है।

आपने लिखा कि 'ईश्वरके सभी विधानोंमें प्रसन्न रहना चाहिये, इसका क्या यह भी आशय है कि उनके वियोगको भी उनका विधान समझकर प्रसन्न रहा जाय? और क्या सदैव स्मरणको ही इतिश्री मानकर सन्तोष करना चाहिये?' सो ठीक है। ईश्वरके सभी विधानोंमें प्रसन्नता माननी ही चाहिये। यहाँ विधानका मतलब है—पूर्वकृत कर्मोंका फल-प्रदान। इसलिये भगवद्-वियोग कोई विधान नहीं है; क्योंकि यह किसी कर्मका फल नहीं है। भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेमका अभाव होनेके कारण उनका वियोग सहन करना पड़ता है और श्रद्धा-प्रेमका अभाव किसी कर्मका फल नहीं है। इसलिये कर्म-फल-भोगमें हमें प्रसन्न रहना चाहिये, न कि भगवान्‌के वियोगमें। तथा नवीन कर्म तो प्रयत्नसाध्य है, अतः नवीन कर्ममें तो हमें ईश्वरके बलपर पुरुषार्थ अवश्य ही करना चाहिये। यदि निरन्तर भगवत्स्मरण होता हो तो उसमें हमें अवश्यमेव परम सन्तोष करना चाहिये, क्योंकि बिना प्रेमके तो निरन्तर स्मरण होता नहीं और संसारमें भगवत्प्रेमसे बढ़कर और है ही क्या! ईश्वरकी प्राप्ति भी तो प्रेमके ही अधीन है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योगसूत्र १। २८)

इस सूत्रका अर्थ है—'उसके नामका जप और उसके अर्थकी भावना करना।' ईश्वरका अर्थ तो ईश्वरका स्वरूप ही है। तत्त्वसहित ईश्वरके स्वरूपको समझकर उसका चिन्तन करना ही उसके अर्थकी भावना है। ॐकारका अर्थ है—उस परमात्माका स्वरूप और भावना है—उस स्वरूपका चिन्तन।

'गीतामें भक्तिको स्वतन्त्र निष्ठा क्यों नहीं कहा गया?' पूछा सो गीतामें भक्तिप्रधान निष्काम कर्मको कर्मयोग कहा गया है और यह सर्वथा स्वतन्त्र है, इसलिये भक्तिको अलग निष्ठारूपसे नहीं बतलाया है; अतः आपको कर्मयोगमें ही भक्तियोग समझ लेना चाहिये।

आपने पूछा कि 'श्रद्धापूर्ण परंतु शास्त्रविधिसे विरुद्ध या शास्त्रविधिके ज्ञानके अभावसे किये गये सकाम और निष्काम कर्मका क्या फल है?' सो शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवालेकी श्रद्धा तो समझी ही नहीं जा सकती। यदि कोई शास्त्रविरुद्ध मनमाना बुरा आचरण करता है तो उसे दण्ड मिलता है और यदि शास्त्रविरुद्ध मनमाना सेवा-पूजा आदि उत्तम कर्म करता है, उसका फल कुछ भी नहीं होता (गीता १६। २३) तथा जो बिना श्रद्धाके शास्त्रविधिके अनुसार भी उत्तम कर्म करता है तो उसका भी कोई फल नहीं होता; क्योंकि वह असत् है (गीता १७। १८)। एवं शास्त्रविधि और श्रद्धा—दोनोंसे रहित जो कर्म करता है, वह तामसी है और उसका फल नरक है (गीता १७। १३)। किंतु जो शास्त्रविधिको तो नहीं जानते पर श्रद्धापूर्वक सेवा-पूजा आदि शुभकर्म करते हैं, उनमेंसे सकाम भावसे किये जानेवाले कर्म राजसी हैं और उनका फल इस लोक और परलोकमें सुख मिलता है (गीता १७। १२) तथा निष्काम-भावसे किये जानेवाले कर्म सात्त्विक कहलाते हैं और उनका फल अन्तःकरणकी पवित्रता और अपने आत्माका कल्याण होता है (गीता १७। ११)।

आपने लिखा कि 'संन्याससे भी अधिक योग्यतावाला कर्मयोग सर्वसुलभ क्यों नहीं हुआ? काल-क्रमसे उसका प्रचार बंद क्यों हो गया? इससे प्रकट होता है कि यह अवश्य ही कठोर मार्ग है।' सो जाना। यद्यपि संन्यास-मार्ग तो कठिन है ही, तथापि कर्मप्रधान कर्मयोगमें

भक्तिकी गौणता रहनेसे वह कर्मयोग भी साधनमें कठिन पड़ जाता है। इसलिये उसकी प्रणाली प्रायः बंद-सी हो गयी। इस घोर कलिकालमें तो केवल भक्ति ही सुलभ साधन है और अङ्गरूपसे उसमें कर्म आ ही जाता है। प्राचीन और अर्वाचीन कालमें जितने भी भक्त हुए हैं, वे प्रायः भक्तिसे ही परमगतिको प्राप्त हुए हैं। उनमें कर्मकी गौणता थी, अतः वे कर्मयोगी न माने जाकर भक्त ही माने गये; किंतु उनमें कर्मकी कुछ कमी होनेपर भी उन्हें कर्मयोगी ही मानना चाहिये; क्योंकि ईश्वरभक्ति भी तो एक उत्तम कर्म ही है।

आपने पूछा कि 'गीतामें बतलाये हुए यज्ञचक्रको न चलानेसे केवल गृहस्थको ही पाप लगता है या संन्यासीको भी ?' सो ज्ञात हुआ। गीताके तीसरे अध्यायके १२, १३ और १६ वें श्लोकमें बतलाये हुए दोष अन्न पकाकर देवताको न अर्पण करनेवाले (यज्ञ न करनेवाले) गृहस्थोंको ही लगते हैं, गृहत्यागी संन्यासियोंको नहीं। पर झूठे संन्यासियोंको तो संन्यास-आश्रमके धर्मोंका पालन न करनेसे गृहस्थोंकी अपेक्षा और भी अधिक दोष लगता है।

आपने लिखा कि 'रामगीतामें बतलाये हुए वाक्यसे प्रतीत होता है कि भगवत्प्राप्तिका अधिकार संन्यासीको ही है।' सो रामगीतामें हमें तो आपका लिखा हुआ वाक्य कहीं नहीं मिला। भगवत्प्राप्तिका अधिकार तो सभी वर्ण और सभी आश्रमवालोंको है, केवल संन्यासीको ही है, यह बात नहीं (देखिये गीता अ० ९। ३२)।

आपने पूछा कि 'गीतामें वर्णित 'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' (गीता १८। ५८) 'ये त्वेतदभ्यसूयन्तः' (गीता ३। ३२) आदि वचन किस मार्गविशेषके विषयमें कहे गये हैं ? जिन्होंने गृहस्थाश्रमको छोटी उम्रमें ही त्याग दिया, ऐसे बुद्ध, चैतन्य और रामतीर्थ आदिको भी कर्मत्यागका दोष लगना चाहिये था।' सो जाना। गीताके तीसरे अध्यायके तीसवें और अठारहवें अध्यायके सत्तावनवें श्लोकों-को देखनेसे यही ज्ञात होता है कि उपर्युक्त 'न श्रोष्यसि' इत्यादि वाक्य भगवान्‌ने गृहस्थमें रहकर कर्मयोग न करनेवालेको ही लक्ष्य करके कहे हैं, सच्चे संन्यासियों-के लिये नहीं। 'विनङ्क्ष्यसि' का अर्थ पतन होना लेना चाहिये। बुद्ध, चैतन्य और रामतीर्थ आदिको यह दोष लागू नहीं हो सकता; क्योंकि शास्त्रमें यह विशेष वचन कहा है 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' अर्थात् जब वैराग्य हो तभी गृहस्थाश्रमका त्याग कर सकता है। अतः उन्होंने धर्मका त्याग नहीं किया; क्योंकि यह भी धर्म ही है।

आपने लिखा कि 'व्रजगोपियोंने और विभीषण-सुग्रीवने भगवान् और शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया, अतः उन्हें पाप होना चाहिये था; वह क्यों नहीं हुआ ? भगवान् इनपर प्रसन्न थे, क्या इसीलिये नहीं हुआ ?' सो व्रजगोपियोंको पतिकी आज्ञा न माननेका पाप तो अवश्य लगा होगा, परंतु भगवद्भक्तिके प्रतापसे उस दोषका नाश हो गया। विभीषणने गोहत्या की थी या नहीं—मुझे पता नहीं। यदि की भी हो तो उसका पाप तो अवश्य ही लगा होगा; परंतु भगवद्भजनसे उसका छुटकारा हो सकता है—यह शास्त्रानुकूल ही है। राक्षस, बंदर और शूद्रोंके लिये नियोग करना दोष नहीं है। अतः विभीषण और सुग्रीवने यदि अपनी भाभीकी सम्मतिसे भाभीके साथ नियोग किया हो तो कोई दोषकी बात नहीं है, किंतु बालिके लिये इसलिये दोष बतलाया गया कि उसने बलपूर्वक अपने छोटे भाईकी स्त्रीके साथ सहवास किया था।

ऊपर आपके पत्रमें पूछे हुए प्रश्नोंके उत्तर लिखे गये हैं। अब, आपके पोस्टकार्डमें की हुई शङ्काओंका उत्तर लिखा जाता है—

आपने लिखा कि 'जिसमें किसी लौकिक सुखकी इच्छाके साथ सांसारिक दुःखोंसे त्राण पाने, ईश्वरतत्त्वको जानने और ईश्वरभक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा हो उसे अर्थार्थी आदि भक्तोंमेंसे किस श्रेणीका भक्त समझना

चाहिये ?' सो ठीक है। गीताके सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें वर्णित भक्त-श्रेणीमें अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (निष्कामी) को इस प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ समझना चाहिये। जिस भक्तमें सांसारिक सुख-प्राप्तिके साथ-साथ सांसारिक दुःखोंसे छूटने, ईश्वर-तत्त्वको जानने और ईश्वर-भक्तिकी प्राप्ति करने आदिकी इच्छा हो, उसे अर्थार्थी भक्त ही समझना चाहिये जैसे ध्रुव आदि। और जिसमें संकटसे छूटने, ईश्वरतत्त्व जानने तथा ईश्वर-प्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उसे आर्तभक्त समझना चाहिये, जैसे द्रौपदी आदि। सारांश यह है कि भक्ति करनेवाले भक्तमें जो नीची-से-नीची भावना रहती है, श्रेणी-निर्णयके लिये वही भावना पकड़ी जाती है।

× × × ×

आपने लिखा कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' आदिसे मनुष्य-को कर्म करनेमें पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी है; किंतु अधिष्ठान, कर्ता इत्यादिके वर्णनसे यह सिद्धान्त पुष्ट नहीं होता सो इसका क्या रहस्य है ?' सो जाना। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि तो निष्काम कर्मके सिद्धान्त-से बतलाया गया है और अधिष्ठान-कर्ता आदिका वर्णन सांख्यसिद्धान्तकी दृष्टिसे किया गया है और उसके बतलानेका वहाँ तात्पर्य भी दूसरा ही है। मतलब यह है कि दूसरे अध्यायके ४७ वें श्लोकमें तो कर्ममें फल और आसक्तिका निषेध किया है और अंठारहवें अध्यायके १४ से १७ वें श्लोकतक कर्मोंमें कर्तापन माननेका निषेध है। भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ कर्मयोगका सिद्धान्त बतलाया है, वहाँ-वहाँ कर्ममें फल और आसक्तिका त्याग करनेको कहा है और ज्ञानयोगका सिद्धान्त जहाँ बतलाया है, वहाँ कर्तापनका अभाव करनेके लिये कहा है।

आपने 'सन्देहनाशके लिये कोई बात दुबारा पूछूँ तो उसे तर्क-वितण्डा न समझें' लिखा सो ठीक है। आपको इस प्रकार बार-बार पूछनेमें तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिये।

दुःखका रहस्य

बाहर-भीतरसे होनेवाले आघातोंको, जिनके कारण यह जीवन इतना दुःखमय हो उठता है, हम स्वयं ही बुलाते हैं। बाह्य सुखोंसे—इन्द्रियजन्य भोगोंसे, मोहित होकर हम उनकी कामना करते हैं और जैसे-तैसे भी उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं। बस, इस प्रयत्नमेंसे ही सारी विपत्तियोंका जन्म होता है और उनका पोषण होता है। इसीसे राग-द्वेष स्वरूप संसार खड़ा हो जाता है। इस राग-द्वेषका कटु परिणाम ही हमें पीछे भुगतना पड़ता है। पर यदि हम इन विषय-भोगोंको न चाहें, केवल शरीरयात्राके लिये नीतिपूर्वक ही इनका उपयोग करें तो बाहर-भीतरसे होनेवाले ये आघात हमारे पीछे न पड़ें। इनका जन्म ही न हो और हमारे अन्तःसुखका, हमारे आत्मबलका क्षय न हो। सत्-चिन्तनसे, भगवत्-चिन्तनसे उसकी और भी वृद्धि होती जाय। ऐसी दशामें वे दुःख-आघात कदाचित् किसी अंशमें आ भी जायँ तो अपने आत्मबलके सुरक्षित रहनेसे हम उनसे विचलित न होंगे; धैर्यपूर्वक उनका सामना कर सकेंगे। अतएव अपने अज्ञानके कारण अपनी विपत्तियोंको हम स्वयं ही बुलाते हैं और इस संसारको, जो अपने-आप न तो सुखस्वरूप है और न दुःखस्वरूप, हम स्वयं ही दुःखस्वरूप बना डालते हैं। 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।' (गीता)

—ब्रह्मानन्द

इष्ट-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी० लिट्०)

सभी उपासक इष्टदेवताकी उपासना करते हैं; परंतु उसके स्वरूपके विषयमें उत्तम ज्ञान बहुतोंको नहीं होता। इष्ट-साधनका प्रयोजन क्या है, साधकके आत्माके साथ इष्टका क्या सम्बन्ध है, गुरु और इष्ट परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न ? इस प्रकारके अनेकों प्रश्न स्वभावतः जिज्ञासुके मनमें उठते हैं । इसी जिज्ञासाके समाधानके लिये यथाशक्ति अपने ज्ञान और अनुभवके आधारपर संक्षेपमें कुछ विचार किया जाता है ।

जो इच्छाका विषय है, वही इष्ट है, तथा जो इच्छाका विषय नहीं, वह अनिष्ट है । मनुष्य जो इच्छा करता है, उसकी प्राप्ति ही उसकी साधनाका लक्ष्य होता है । इस प्राप्तिके मार्गमें जो रुकावटें आती हैं, वे चाहे साक्षात्‌रूपमें हों, या परम्पराजनित हों, अनिष्टरूपमें उनकी गणना होती है । इन सारी रुकावटोंको दूर करके इष्ट वस्तुको प्राप्त करना ही जीवनका उद्देश्य कहलाता है ।

जो इच्छाका विषय है, उसका स्वरूप क्या है ? अर्थात् किसी-न-किसी रूपमें जिसको सभी प्राप्त करना चाहते हैं, उसका स्वरूप क्या है ? इसका एकमात्र उत्तर है—आनन्द ! अतएव आनन्दकी प्राप्ति ही है इष्टप्राप्ति । क्योंकि ज्ञात अथवा अज्ञातरूपसे सभी एकमात्र आनन्दकी ही इच्छा करते हैं ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आनन्द क्या कोई पृथक् वस्तु है । साधक आनन्दकी कमीके कारण ही आनन्द-प्राप्तिकी कामना करते हैं । जिसके पास जिस वस्तुकी कमी होती है, वह उसीकी प्राप्तिकी कामना करता है । अतएव साधकसे उसका आनन्द पृथक् वस्तु है । यह बात स्वभावतः मनमें उठती है । यदि यही बात है तो 'यह आनन्द है क्या वस्तु ? रहती कहाँ है, तथा किस प्रकार इसकी उपलब्धि होती है ?' यह जिज्ञासा होती है ।

वस्तुतः साधकके आत्मस्वरूपसे पृथक् कोई आनन्द नामकी वस्तु नहीं है। इसी कारणसे सब लोग अपने आत्माको ही सर्वापेक्षा प्रियतम वस्तु समझते हैं । क्योंकि आनन्दकी अपेक्षा अधिकतर प्रिय कोई वस्तु नहीं हो सकती । किसीको चाहे कोई भी वस्तु प्रिय क्यों न हो, वह आत्माके लिये ही प्रिय होती है । जगत्‌के समस्त पदार्थोंमें उपाधिजनक प्रीति होती है । परंतु एकमात्र आत्मा ही निरुपाधिक प्रीतिका विषय है । अतएव आत्मा, आनन्द और इष्ट मूलतः एक ही वस्तु है । चाहे कोई किसी वस्तुकी इच्छा क्यों न करे, अज्ञातभावसे वह अपनेको ही चाहता है, किसी दूसरी वस्तुको नहीं चाहता, तथा चाहनेकी कोई दूसरी वस्तु है भी नहीं । परंतु अज्ञानवश, अर्थात् समझ न सकनेके कारण प्रत्येक आदमी यह समझता है कि उसकी चाहकी वस्तु उससे पृथक् है । जबतक द्वैतज्ञान है तबतक यही स्वाभाविक है, और इसीके आधारपर व्यावहारिक जगत् प्रतिष्ठित है ।

जब साधक अपने स्वरूपसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुको आनन्दास्पद समझता है, तब यह वस्तु ही उसके लिये इष्ट-स्वरूपमें प्रतीत होती है । यद्यपि मूलमें अज्ञान रहता है, यह बात सत्य है, तथापि बाह्य वस्तुको प्रिय अथवा इष्ट कहनेमें कोई बाधा नहीं । परंतु देखा जाता है कि यह बाह्य वस्तु कालभेद, स्थानभेद और अवस्थाभेदसे अलग-अलग हो सकती है । इसीलिये जो वस्तु एक समय इष्ट जान पड़ती है, दूसरे समय वही चित्तको आकर्षित करनेमें समर्थ नहीं होती है । इसी प्रकार एक स्थानमें अथवा एक अवस्थामें जो इष्टरूपमें गिनी जाती है, वही वस्तु दूसरी अवस्था अथवा स्थानमें अनिष्टरूपमें दीख पड़ती है ।

व्यावहारिक दृष्टिमें इष्टका निरूपण करना बहुत ही कठिन जान पड़ता है क्योंकि कोई वस्तुविशेष या भावविशेष किसी साधकविशेषके लिये देश, काल और अवस्थासे निरपेक्ष होकर समानरूपसे आनन्ददायक नहीं होती । इसका रहस्य तथा वास्तविक इष्ट-निरूपणके उपायोंको जानना आवश्यक है । जब आत्मा ही मूल इष्ट है, तो अज्ञानावस्थामें उसे आत्मस्वरूपमें, इष्टरूपमें न पहचान सकनेपर भी बाह्य-रूपसे एक आधारविशेषमें क्यों नहीं प्राप्त किया जा सकता। इस प्रश्नकी मीमांसा आवश्यक है ।

इसका उत्तर यही है कि एकमात्र आत्मा ही इष्ट है, यह सत्य है, परंतु जबतक आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती, तबतक वह समझमें नहीं आता । यही अज्ञानकी आवरणशक्तिकी क्रीड़ा है । स्वरूपानन्दके आच्छन्न होनेके बाद, अज्ञानकी विक्षेपशक्तिके प्रभावसे वह आनन्द समस्त जगत्‌में बिखर गया है । जीवके स्वरूपगत वैशिष्ट्य तथा विक्षेपशक्तिके तारतम्यके कारण विक्षिप्ततामें भी तारतम्य

होता है। प्रत्येक जीवका स्वरूपानन्द खण्ड-खण्ड होकर अनन्त विश्वमें सर्वत्र न्यूनाधिकभावमें फैला हुआ है। जबतक ये बिखरे हुए आनन्दके कण समष्टिभावमें समवेत होकर घनीभूत न होंगे, तबतक जीवको अपने स्वरूपानन्दकी झलक नहीं मिल सकती। साधनाका उद्देश्य है आनन्दके इन कणोंको सञ्चितकर उन्हें एक आकृति प्रदान करना।

प्रसंगवश यहाँ एक सूक्ष्म प्रश्न उठता है। यदि प्रत्येक जीव आनन्दस्वरूप ही है, तो सारे जीवोंके आनन्द एक ही प्रकारके होंगे, यह मानना ही पड़ता है।

वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। ब्रह्मस्वरूपमें सामान्य भाव और विशिष्टभावके आनन्द विद्यमान हैं। यद्यपि प्रत्येक जीव ब्रह्मस्वरूप है तथापि उसमें कुछ वैशिष्ट्य होता है। साधारणतः एक जीव दूसरे जीवसे पृथक् नहीं होता, क्योंकि दोनोंकी मूल सत्ता एक ही है। परंतु विशेष दृष्टिसे देखनेपर प्रत्येक जीवमें विलक्षणता दीख पड़ती है, जिसके फलस्वरूप किसी भी दो जीवमें सदा ही अनन्त प्रकारकी पृथक्ता रहती है। इसी कारण, एक आदमीको जो अच्छा लगता है, दूसरेको वह अच्छा नहीं लग सकता। क्योंकि प्रत्येक जीवकी प्रकृति अलग-अलग है। सृष्टिके बादसे ही प्रत्येक जीव अपने-अपने आनन्दके अन्वेषणमें लगे हुए हैं। अर्थात् वे निरन्तर जन्म-जन्मान्तर नाना रूपमें, नाना प्रकारसे आनन्दके सञ्चयमें लगे हुए हैं। अबतक उनके अन्वेषणका अवसान नहीं हुआ है। और जिस ढंगसे वे चल रहे हैं उसके अवसानकी आशा भी नहीं की जा सकती। नेत्रोंमें रूपतृष्णा तथा समस्त देहव्यापी त्वचामें स्पर्शतृष्णा—एवं प्रत्येक इन्द्रियमें अपने-अपने विषयकी तृष्णा सदा ही जाग्रत् रहती है। भोग्य पदार्थोंकी प्राप्ति तो होती ही रहती है, परंतु उनसे तृप्ति नहीं होती।

कवि कहते हैं—

जनम अवधि हम रूप नेहारिनु नयन ना तिरपित भेल।

जन्मसे ही चक्षु चारों ओर अनन्त प्रकारसे रूपका दर्शन करती है। फिर भी पुनः-पुनः रूप देखनेकी तृष्णासे मुक्ति नहीं हो पाती। इसी प्रकार अन्यान्य बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरणके विषयमें भी समझना चाहिये। नेत्रोंके सामने इस प्रकारका अलौकिक रूप प्रकट नहीं हुआ, जिसका दर्शन कर उन्हें तृप्ति मिल सके; तथा दूसरे किसी रूपको देखनेके लिये फिर बहिर्मुख वृत्ति न हो। रूपको देखकर उन्हें जो तृप्ति मिलती है, वह सामयिक होती है, स्थायी नहीं होती। नेत्रके लिये रूप इष्ट है, क्योंकि नेत्र रूप चाहते हैं। परंतु अग्निमें आहुति पड़नेसे जैसे अग्नि वृद्धिको प्राप्त होती है, उसी प्रकार निरन्तर रूपदर्शन करनेसे नेत्रोंकी रूपतृष्णा बढ़ती ही है। क्षणिक तृप्ति केवल उद्दीपनका ही कार्य करती है। अतएव नेत्र आदि किसी भी इन्द्रियने आजतक स्थायीरूपसे इष्ट-प्राप्ति करनेमें सफलता नहीं प्राप्त की। क्योंकि इष्टकी प्राप्ति होनेपर तृष्णा मिट जाती है, बहिर्मुख वृत्ति नहीं रहती और खोज भी नहीं होती। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक इन्द्रियके विषय अलग-अलग होते हैं। नेत्रके लिये जो इष्ट होता है, वह कानके लिये इष्ट नहीं होता, एवं कानके लिये जो इष्ट होता है, वह नेत्रके लिये इष्ट नहीं होता। उसी प्रकार बाह्य-इन्द्रियोंके लिये जो इष्ट होता है, अन्तःकरणके लिये वह इष्ट नहीं होता। एवं अन्तःकरणके लिये जो इष्ट होता है, बाह्य-इन्द्रियाँ उससे तृप्त नहीं होतीं। अतएव पूर्ण इष्ट वही एक वस्तु हो सकती है जो बाह्य-इन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय तथा आत्म-प्रकृतितकको तृप्ति प्रदान करती हो। वास्तविक इष्टकी प्राप्ति होनेपर देह, इन्द्रिय, प्राण और मन—सबके अभाव सदाके लिये मिट जाते हैं।

क्या इस प्रकारकी कोई वस्तु है कि जिसके द्वारा प्रत्येक इन्द्रिय, मन तथा आत्म-प्रकृतिकी तृष्णा सदाके लिये निवृत्त हो जाय? इसके उत्तरमें कहना होगा कि ऐसी वस्तु निश्चय ही है। उस वस्तुको प्राप्त करनेपर किसी दूसरी वस्तुके प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। वह एक ही वस्तु एक ओर जहाँ अपने अलौकिक रूप आदिके द्वारा नेत्रादि प्रत्येक इन्द्रियको आनन्द प्रदान करती है, उसी प्रकार दूसरी ओर अपने अलौकिक गुण और महिमाके द्वारा साधकके चित्तको आकर्षित करती है। उसका निराकार स्वरूप साधककी निराकार आत्म-प्रकृतिको आनन्दसे आह्लादित कर देता है। ऐसी स्थितिमें यह समझा जा सकता है कि साधककी अन्तः-प्रकृति और बाह्यप्रकृतिके प्रत्येक अङ्ग इस वस्तुको धारण करनेके लिये सृष्ट हुए हैं। यह वस्तु ही अमृतस्वरूप है, तथा साधककी प्रत्येक इन्द्रियरूपी प्रकृति मानो उसको प्राप्त करनेके लिये पात्ररूपमें निर्मित हुई है। अतएव इन्द्रियोंको सुखाकर नष्ट कर देना इष्ट-साधनाका लक्ष्य नहीं है। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन प्रभृति सबको सरसता प्रदान करना ही इष्ट-लाभका फल है। खोजके समय कठोरता और नीरसता वाञ्छनीय होती है, परंतु सिद्धिकालमें ये कभी स्थायी नहीं होतीं।

साधनाका उद्देश्य है इष्टको गठन करना, अथवा नित्य-सिद्ध इष्टको प्रकाशित करना—इसकी मीमांसा आवश्यक है। वस्तुतः नित्य-सिद्ध इष्टको अभिव्यक्त करना ही साधनाका उद्देश्य है। परंतु इस अभिव्यक्तिका एकमात्र उपाय है—इष्टके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी रचना कर उसे आकार प्रदान करना। जब इष्ट वस्तु आकार धारणकर साधककी दृष्टिके सामने प्रकाशित होती है, तब उस आकारके पृष्ठदेशमें चैतन्यमय इष्टस्वरूप आत्मप्रकाश करता है। आकारकी सृष्टि तथा नित्यसिद्ध स्वरूपकी अभिव्यक्ति एक ही बात है। आकार अपने असंख्य अवयवोंके सञ्चयके प्रभावसे समष्टिबद्ध-रूपमें प्रकाशित होता है। अवयवकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ निराकार चैतन्य सत्ता उसके साथ जुड़ी होती है। आकार-रचनाका मुख्य रहस्य यही है कि आनन्दके असंख्यों कण, जो समग्र विश्वमें बिखरे हुए फैले हैं, उनको एक स्थानमें आकर्षण कर घनीभूत करना।

ये सारे बिखरे हुए आनन्द-कण निर्मल नहीं हैं। कोई वस्तु जब आघात लगनेसे टूट-फूट जाती है तो उसमें अनेकों भाग हो जाते हैं; और उन प्रत्येक भागोंमें मलिनताका आविर्भाव होता है। जबतक यह मलिनता अनेकों भागोंमें बिखरी होती है तबतक दूर नहीं होती; परन्तु जब ये सभी खण्ड पुनः एक स्थानमें आकर सञ्चित हो जाते हैं, तब यह मलिनता दूर हो जाती है। अनेक भागोंमें विभक्त होनेके समय मलिनता क्यों आती है, यह प्रश्न उठ सकता है। इसका उत्तर यह कि चैतन्य-शक्तिकी स्वेच्छासे ही न्यूनता अथवा सङ्कोचके कारण एक अनेकमें परिणत हो जाता है, अतएव यह अकाट्य सत्य है कि विपरीत क्रमसे चैतन्य-शक्तिके उन्मेष अथवा स्फुरणके बिना ये समस्त असंख्य खण्ड पुनः एक अखण्डमें परिणत नहीं हो सकते। अतएव जिस क्रियामें अनेक एक हो जाते हैं, उसमें चैतन्यशक्तिकी क्रिया अवश्य ही रहेगी, तथा इसी कारण एक होनेके साथ-साथ एक ओर जहाँ विक्षिप्तता दूर हो जाती है, दूसरी ओर उसी प्रकार मलिनता दूर होकर रजोगुण और तमोगुणको निवृत्त करती है तथा शुद्ध सत्त्वकी प्रतिष्ठा होती है।

अतएव आनन्दके कणोंको एक स्थानमें सञ्चय करना, अथवा शुद्ध सत्त्वमें स्थिति होना—दोनोंको एक ही बात समझी जा सकती है। परन्तु यहाँ एक बात याद रखनेयोग्य है। प्रत्येक जीवके अपने प्रकृतिभेदके कारण उनके स्वरूपानन्दके आस्वादनमें भी पृथक्ता होती है। इस पार्थक्यको जब जीवके स्वरूपगत वैशिष्ट्यकी दृष्टिसे देखते हैं तो उसे नित्य कहना ही ठीक जान पड़ता है। जब जीवका स्वरूपगत भेद परमात्माके स्वगतभेदके रूपमें परिणत होगा, उस समय दृष्टि और ही हो जायगी। आपाततः यह जानना चाहिये कि समग्र विश्वमें प्रत्येक स्थलमें अनन्त जीवोंके अनन्त स्वरूपानन्द अपने-अपने चित्तके अंशरूपमें बिखरे हुए हैं, अर्थात् प्रत्येक स्थानमें मात्राके तारतम्यके अनुसार प्रत्येक जीवके आनन्दके कण विद्यमान हैं। वे परस्पर पृथक् होते हुए भी अपृथक्-रूपमें मिले हुए रहते हैं। अतएव सभी वस्तुएँ सर्वात्मक हैं। परन्तु तिसपर भी इसमें हमारा कोई लाभ नहीं, क्योंकि हमारे अपने आनन्दकण ही हमारे आस्वादनकी वस्तु हैं। उसे पृथक्रूपमें यदि आस्वादन न किया जाय तो हमारे लिये उस प्रकारकी वस्तुकी आस्वादनशीलता कोई मूल्य नहीं रखती।

इस आनन्दकणके आकर्षण और आस्वादनकी दो क्रियाएँ हैं—एक है लौकिक और दूसरी है अलौकिक। इन समस्त अपने आनन्दकणोंको दूसरोंके आनन्दकणोंके साथ मिलाकर आस्वादन करना लौकिक प्रक्रिया है, इसे ही विषयभोग कहते हैं। परन्तु अपने समस्त आनन्दकणोंको दूसरे लोगोंके आनन्दकणोंसे अलग करके शुद्ध भावसे आस्वादन करना ही इष्ट-सिद्धि और इष्ट-सम्भोग कहलाता है। लौकिक भोक्ता अपनी वस्तुको अलग नहीं कर सकता, इसी कारण उसका भोग अशुद्ध भोग होता है। उसमें मलिनता रहती है। इसीलिये इस भोगसे स्थायी तृप्ति नहीं मिलती। विषयभोग बन्धनका ही हेतु होता है। वस्तुतः भोग विषयका नहीं होता, बल्कि विषयमें स्थित अपने आनन्दकणोंका होता है।

गुरुकृपा प्राप्त करके साधक विषयसे अपने-अपने आनन्द-कणोंको अलग खींचकर सम्भोग करनेमें समर्थ होते हैं। जगत्-की समस्त भोग्य वस्तुओंसे मन्थनद्वारा अपनी प्रकृतिके अंशभूत आनन्दकणोंको बाहर करना पड़ता है। जिस प्रकार तिलसे तेल, दूधसे नवनीत और काष्ठसे अग्नि उद्भूत होती है, यह बात भी ठीक उसी प्रकारकी है। विश्वव्यापिनी अखिल प्रकृतिसे अपने उपादानरूप आनन्दकणोंको निकाल लेना आवश्यक है। जबतक विश्वकी किसी वस्तुमें यह उपादान थोड़ा भी वर्तमान है, तबतक उसके प्रति आसक्ति अनिवार्य है। परन्तु इस उपादान अंशको हटाकर अलग कर लेनेपर उसके प्रति फिर आसक्ति नहीं रह जाती, अपने आनन्द अंशको खींच लेनेके बाद वह वस्तु फिर चित्तको मुग्ध नहीं कर सकती।

जगत्की समस्त वस्तुएँ प्रकृत आनन्दके रूप हैं। किन्तु अलौकिक और विशुद्ध आनन्द प्रत्येकको अपनी-अपनी चेष्टाके द्वारा गठित करना पड़ता है। गठन शब्दसे यहाँ अभिप्राय नित्यसिद्ध वस्तुकी अभिव्यक्ति समझना चाहिये। आनन्द-कणोंकी समष्टिसे ही इस शुद्ध आनन्दमूर्तिकी रचना हुआ करती है। प्रत्येक जीवके लिये यह आनन्दमूर्ति पृथक्-पृथक् होती है, इसीका दूसरा नाम इष्टमूर्ति है, जिसके बारेमें पहले कहा जा चुका है।

पहले कहा जा चुका है कि एकके अनेक बननेके समय आवरण और मलिनताकी सृष्टि होती है। इसका कारण है चैतन्यका सङ्कोच या ह्रास। उसी प्रकार चैतन्यके विकाससे ही अनेक फिर अनेक नहीं रह जाते, क्रमशः एकमें पर्यवसित हो जाते हैं। जब यह समष्टिभावकी प्रक्रिया परिसमाप्त हो जाती है, तब उन-उन आकारोंमें एकमात्र आनन्द ही अवशिष्ट रहता है। यह जो बिखरे हुए आनन्दकणोंका एकत्र आकर्षण होता है, इसके मूलमें चुम्बक शक्तिकी क्रिया काम करती है। चुम्बक शक्ति जिस वस्तुके आश्रय होती है, उस वस्तुके सारे अणुओंको आकर्षित करना उसका स्वभाव होता है। दीक्षा-कालमें गुरु-कृपासे जीव जब इस चुम्बक शक्तिको प्राप्त होता है, तभीसे यह शक्ति निरन्तर कार्य करने लगती है। शक्तिके विकासके साथ-साथ अपने समस्त आनन्दकण क्रमशः बिटुरने लगते हैं। जिस चित्तमें गुरुशक्ति पड़ती है, वही चित्त चुम्बकरूपमें परिणत होता है। तब वह चित्त स्वयं पूर्ण होनेके लिये अपने अंशोंको यथाशक्ति आकर्षण करने लगता है। यदि इस प्रक्रियामें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता है तो यथा-समय समस्त कण चुम्बक आकर्षणसे आकृष्ट होनेके कारण घनीभूत होकर एक आकार धारण कर लेते हैं।

जिस आकारका उल्लेख किया गया है, उसकी स्थिति और अभिव्यक्ति एक प्रकारसे हृदयाकाशमें होती है, परन्तु जब विकास पूर्ण होता है, तब हृदयके चारों ओरके समस्त द्वार बन्द हो जाते हैं, तथा ऊर्ध्वद्वार खुल जाता है। और इसी खुले द्वारका सहारा लेकर चैतन्यमय आनन्दराज्यमें प्रवेश प्राप्त होता है, इस अवस्थामें इष्ट केवल मानसिक ज्ञानके विषयरूपमें ही नहीं रहता, बल्कि समस्त इन्द्रियोंके लिये प्रत्यक्ष स्थूल सत्तामय मूर्तिविशेषमें प्रकट होता है। परन्तु स्थूलमूर्ति होनेपर भी वह जागतिक दृष्टिके लिये प्रत्यक्षीभूत नहीं होता। जबतक जगत्के लोग अपने देह-इन्द्रिय आदिको संस्कृत नहीं करेंगे, तबतक यह चिदानन्दमय मूर्त्ति उनकी इन्द्रियोंके लिये प्रत्यक्षीभूत न होगी। इसे यद्यपि स्थूल तो कहते हैं परन्तु यह जागतिक स्थूल नहीं है, यह सिद्धभूमिका स्थूल है। साधक अपने देह-इन्द्रिय आदिके साथ संस्कार उपलब्ध करनेके कारण इस स्थूलमूर्तिका सर्वदा आस्वादन कर सकता है, और उसके साथ सब प्रकारके व्यवहार भी चला सकता है। परन्तु, फिर भी कहना पड़ेगा कि इस स्थूलमें ही आनन्दका उत्कर्ष है। यह सृष्टिका एक महा-रहस्य है।

'यह प्रश्न उठाया जा चुका है कि वह इष्ट वस्तु उस समय कहाँ रहती है? इसका उत्तर यह है कि इष्ट या आनन्द पूर्णरूपसे अभिव्यक्त होनेपर साधकके साथ अभिन्न भावसे रहता है, उस समय इसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती, पर रहती भी है। एक त्रिभुजके ऊपर, ठीक उसके बराबर ही दूसरा त्रिभुज आरोपित होनेपर जैसे दोनों त्रिभुज दो नहीं जान पड़ते, एक ही जान पड़ते हैं, उसी प्रकार इष्ट भी पृथक् होते हुए भी अपृथक्के समान अवस्थित होता है। साधक या योगी इच्छा करते ही दो होकर प्रकट हो सकते हैं, और इस प्रकार प्रकट होकर सब प्रकारके आस्वादन और व्यवहार करनेमें समर्थ होते हैं। और फिर इच्छा करते ही ये दोनों रूप एक ही स्वरूपमें पर्यवसित हो जाते हैं। इष्टके साथ साधककी अपनी अनन्त माधुर्यमयी लीलाएँ इसी प्रकार सम्पादित होती हैं।

उपासनाके फल-स्वरूप इष्टका आविर्भाव होता है, और फिर इष्टके आविर्भावके फलस्वरूप उपासना आरम्भ होती है। ये दोनों एक ही सत्य हैं। एक दृष्टिसे देखनेपर उपासना क्रमशः परिपक्व होनेपर आनन्दकणोंके एकीकरणद्वारा इष्टमूर्तिकी रचना पूर्ण करती है। यह मूर्ति ही इष्टस्वरूपकी अभिव्यञ्जना करती है। इस प्रकार देखनेपर जान पड़ता है कि इष्ट-साक्षात्कार उपासनाका फल है। दूसरी दृष्टिसे, जबतक इष्ट-साक्षात्कार नहीं होता, तबतक वास्तविक उपासनाका सूत्रपात नहीं होता। द्रष्टाके रूपमें स्थिरभावसे समीपमें बैठनेका नाम उपासना है। जिसके समीप बैठना है, वह यदि प्रकट न हो तो उसकी उपासना कैसे स्थिर होगी? इसलिये प्रथमको गौण कहकर दूसरीको मुख्य उपासना कहा जा सकता है। जप आदि गौण उपासनाके स्वरूप हैं। और ध्यान मुख्य उपासना-का स्वरूप है। जपके द्वारा इष्ट-साक्षात्कार तथा उत्तरकालीन इष्टविषयक ध्यानसे इष्ट-प्राप्ति और इष्टके साथ मिलन प्राप्त होता है। इष्टका रूपदर्शन न होनेपर ठीक तौरपर इष्टका

ध्यान नहीं किया जा सकता। इसी कारण ध्यानके पहले इष्टदर्शनकी आवश्यकता रहती है। परन्तु कल्पित इष्टदर्शन वास्तविक इष्टदर्शन नहीं होता। प्रकृत इष्टरूपका दर्शन करनेके लिये बीजसे ही दर्शन करना आवश्यक है, बीजके बिना यथार्थरूप स्फुटित नहीं होता। उपासनाके प्रसङ्गमें इस विषयकी विशेषरूपसे आलोचना की जा सकती है। इष्टदर्शनके बाद इष्टको स्थायीरूपमें प्रतिष्ठित करना पड़ता है, क्योंकि ऐसा न करनेसे बीच-बीचमें यदि इष्टस्वरूपका अभाव या अदर्शन हो तो सर्वदा इष्ट-दर्शन सम्भव नहीं होता। इष्टको सर्वदा सामने रखकर उसका दर्शन करना ही मुख्य उपासनाका तात्पर्य है। मुख्य उपासनाके फलसे द्रष्टा या उपासक साधक एवं उपास्य इष्टसाध्य—इन दोनोंका व्यवधान क्रमशः कम हो जाता है। तब उपास्य-उपासकका मिलन होता है, यही योग है। इसके बाद दो सत्ता एकरूपमें प्रकाशित होती है, इसीका नाम ज्ञान है। तब एक ही चैतन्य स्वरूपमें दोनोंकी समाप्ति होती है। जबतक इष्ट सम्मुख रहता है, तबतक साधक इष्टके अधीन रहता है, परन्तु जब मनमें इष्ट नहीं रहता, तब एक स्वयंप्रकाश आत्मा ही अखण्डरूपमें विराजमान रहता है।

पहले कहा जा चुका है कि सबके अपने-अपने समस्त आनन्दकण समग्र विश्वमें बिखरकर व्याप्त रहते हैं। ये आनन्द-कण सबके अपने-अपने चित्तको आश्रय करके रहते हैं। यह बात कहे बिना भी समझमें आ सकती है। यदि यह सत्य है तो मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जीवके चित्त विकल (अपूर्ण) हैं, किसीका भी चित्त पूर्ण नहीं है। यहाँ प्रश्न यह है कि समस्त अपूर्ण (विकल) चित्तोंके शून्य अंश रिक्त रहते हैं। अथवा अन्य किसी वस्तुके द्वारा पूर्ण (भरे हुए) होते हैं।

प्रकृतिका कोई भी स्थल रिक्त नहीं रह सकता, चित्तके अंश बाह्य जगत्के जिन-जिन स्थानोंमें आविष्ट रहते हैं, उन्हीं-उन्हीं स्थानोंसे उसके (बाह्य जगत्के) सारे अंश लौटकर चित्तके रिक्त स्थानको भर देते हैं। बाह्य जगत् भौतिक सत्तामय होता है। चित्तके अंश जिस प्रकार समस्त भौतिक जगत्में व्याप्त होते हैं, उसी प्रकार भौतिक जगत्के सत्तांश भी चित्तके रिक्त स्थानमें आविष्ट होते हैं। प्रत्येक मनुष्यके चित्तमें इस प्रकार भौतिक अंश विद्यमान रहते हैं। इसको वासना कहते हैं। चित्तके शुद्ध होनेपर यह वासनारूपी भौतिक अंश उसमें नहीं रहता। वह यथास्थान पृथक् हो जाता है। तब इस वासनाके स्थानमें चित्तके अपने अंश लौट आते हैं। चित्तके अपहृत समस्त अंश जब लौट आते हैं तो चित्त शुद्ध और पूर्ण हो जाता है। दूसरी ओर, भौतिक-सत्तामें भी उसका अपहृत अंश लौट जाता है। भौतिक-सत्तासे चित्तांशके चले जानेके कारण जो रिक्तता होती है, वह भी, भौतिक-सत्ताके अपने अंशके लौटनेपर, शुद्ध और पूर्ण हो जाती है। पूर्वोक्त प्रक्रियाका नाम चित्त-शुद्धि और शेषोक्त प्रक्रियाका नाम भूतशुद्धि है। दोनों प्रक्रिया एक ही साथ सम्पादित होती है।

हमारा शरीर पञ्चभूतोंके सम्मिलनसे सृष्ट हुआ है। उसके साथ चित्तका संयोग है। उसी प्रकार हमारे चित्तमें भी पञ्च-भूतोंके अंश विद्यमान हैं। स्थूलदेह और विश्वदेहमें एक ही व्यापार चल रहा है। चित्त और भूतोंके परस्पर मिलने और घुलमिल जानेसे ही देहका आविर्भाव होता है। अवश्य ही इनके अन्तरालमें—केन्द्रस्थानमें आत्मा रहता है। इसके तो कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। भूतोंसे चित्तके अंश दूर हो जाते हैं तो भूतोंमें अपहृत भूतांश एवं चित्तसे भूतोंके अंश दूर हो जाते हैं तो चित्तमें अपहृत चित्तांश लौट आते हैं। तब पञ्चभूत अपने-अपने केन्द्रमें प्रविष्ट होते हैं, उनका बिखरना बंद हो जाता है। यही भूत-शुद्धि कहलाती है। चित्तका बिखरना भी उस समय बंद हो जाता है, उसे चित्त-शुद्धि कहते हैं। इस प्रकार पञ्चीकरणकी अतीतावस्थामें जाकर देहतत्त्वकी साधनासे षट्चक्रभेदनकी क्रिया निष्पन्न होती है। इसी अवस्थामें तृतीय नेत्र खुल जाता है। इसीको दूसरे शब्दोंमें पूर्ववर्णित इष्ट-साक्षात्कार कहेंगे। इस अवस्थामें बिन्दुमें स्थिति होती है। कुण्डलिनीके जागरणके साथ-साथ नादके स्थानके फलस्वरूप बिन्दुकी प्राप्ति होती है। बिन्दुसे महाबिन्दुकी ओर गमन करना ही महामिलनकी प्राप्तिका उपाय है। महाबिन्दु शब्दसे हमारा अभिप्राय सहस्रारकी कर्णिका है। कहना न होगा कि इसके परे भी दीर्घपथ रहता है। इसके वर्णनका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। पूर्ववर्णित गौण उपासनाका उद्देश्य षट्चक्रोंका भेदन करना ही है। आज्ञाचक्रसे आगे सहस्रारकी ओर जाना और उसे प्राप्त करना ही मुख्य उपासनाका लक्ष्य है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि वास्तवमें इष्ट क्या वस्तु है, उसका द्रष्टा कौन है, तथा दोनोंमें क्या सम्बन्ध है? इष्टकी अभिव्यक्ति और इष्टदर्शन, दोनोंमें सम्बन्ध कहाँ है? किस प्रकाशसे अथवा किस नेत्रसे इष्टदर्शन होता है, अथवा उसका विकास ही किस प्रकार होता है?

वस्तुतः जो इष्ट है, वही द्रष्टा भी है। अपने-आपको साक्षात्कार करना ही इष्ट-दर्शन कहलाता है। परन्तु जबतक वह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक यह कहना नहीं बनता। चिदानन्दस्वरूप आत्माका चिदंश द्रष्टा है और आनन्दांश इष्ट है। चिदंश पुरुष है और आनन्दांश प्रकृति है, चित्से आनन्दका वास्तविक भेद न होनेपर भी एक कल्पित भेद है। इस अवस्थामें चित्से पृथक् रूपमें चित्तका आविर्भाव होता है, तथा इस चित्तमें आनन्द प्रतिबिम्बित होता है, इस आनन्दका आस्वादन चित् ही भोग्य-रूपमें अभिन्न भावसे करता है। यह भोग स्वरूपानन्दका भोग होते हुए भी भोग ही है। चित् और आनन्दमें जब वैकल्पिक भेद नहीं रहता, तब इसका नाम 'रस' होता है और तब इसे भोग नहीं कहा जा सकता। यह जो आनन्दका आस्वादन है, यह अपनी शक्तिरूपी दर्पणमें अपने स्वरूपका प्रतिबिम्ब मात्र है। यह चित्तमें प्रतिबिम्बितरूपमें ही अनुभूत होता है। चित्त चित्की समीपस्थ बहिर्मुख अवस्थामात्र है, उसे ठीक चित् कहना नहीं बनता। फिर भी वह सदा ही चिदालोकसे आलोकित रहता है। वह जागतिक दृष्टिसे अचित् न होते हुए भी अचित्पदवाच्य है। उसे ही सत्त्व (शुद्ध सत्त्व) कहते हैं। यह जो चिदालोकित चित्तसत्त्वरूप दर्पणमें प्रतिबिम्बित आनन्द है, यही चित्की आस्वादनीया प्रकृति है, तथा इस आनन्दका आस्वादन करनेवाला चित् है। यह आनन्द ही इष्ट है। यहाँ सृष्टिके रहस्यका वर्णन करनेका अवसर नहीं है, परन्तु जान लेना होगा कि सृष्टिकालमें यह मूल चित्त ही अनन्तभावमें विभक्त हो जाता है। तथा आनन्द वस्तुतः एक होनेपर भी अनेक होनेके साथ-साथ अनन्त आनन्दकणोंके रूपमें बिखर जाता है। चिद्रूपी द्रष्टा एक होनेपर भी क्षणभेदसे अनन्तरूपमें प्रकाशित होता है। तदनुसार एक ही परमपुरुष अनन्तपुरुषमें पर्यवसित होता है, तथा आनन्दात्मिका प्रकृति मूलमें एक होते हुए भी विभिन्न पुरुषोंकी अनुगामिनी रूपसे अनन्त प्रकृति भावमें स्फुरित होती है। जब सृष्टिकालमें एक सत्तासे अनेक सत्ताका आविर्भाव होता है, तब महाप्रकृतिके समान खण्ड प्रकृति भी अनन्त भावोंमें विभक्त होकर कणोंके रूपमें फैल जाती है। इसीको विश्वव्याप्त अनन्त आनन्दकण कहते हैं।

प्रत्येक साधककी अपनी-अपनी दृष्टि होती है। वे जबतक मूल द्रष्टामें अवस्थित नहीं हो जाते, तबतक उनकी प्रकृति भी पृथक्-पृथक् होती है। उनके जब अपने आनन्दांश गठित होते हैं तो उसके सामने इष्टरूपमें प्रकट होते हैं। इसी कारण वस्तुतः इष्टके एक होनेपर भी भावभेदसे प्रत्येकका इष्ट पृथक्-पृथक् होता है। भावभेद न रहनेपर इष्ट एक ही है, और वह महाभावकी अवस्था है। महाभावकी अतीतावस्थामें इष्ट भी नहीं रहता और द्रष्टा भी नहीं रहता, अर्थात् दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। उस समय शुद्ध द्रष्टा मात्र अवशिष्ट रहता है।

इष्टका आविर्भाव तभी सम्भव है जब बिखरे हुए आनन्द-कणोंके सम्मिलनकी क्रिया समाप्त हो जाती है। जबतक समाप्त नहीं होती तबतक इष्ट वस्तुकी आकारसिद्धि नहीं होती। आकार सिद्ध न होनेपर उसमें चैतन्यका सञ्चार नहीं हो सकता। चैतन्य-सञ्चारका अभिप्राय है चिद्रूपी द्रष्टाकी दृष्टिमें आविर्भूत होना। इसीको इष्ट-साक्षात्कार कहते हैं।

समस्त आनन्दकणोंका सञ्चय जिस अनुपातसे होता है, ठीक उसी अनुपातसे चैतन्यसे आवरण-शक्ति क्रमशः अपसारित होती जाती है। साकारत्व साधन जिस प्रकार दीर्घकालका व्यापार होते हुए भी एक क्षण अर्थात् अन्तिम क्षणका व्यापार होता है, उसी प्रकार चैतन्यकी अभिव्यक्ति भी होती है। जिस क्षण समस्त आनन्दकण पूर्णतः बाहरसे आकृष्ट होकर एक स्थानमें घनीभूत होते हैं, जब बाहर और कुछ आकर्षणके योग्य नहीं रह जाता, ठीक उसी क्षण चैतन्य भी शुद्ध-रूपमें अभिव्यक्त हो उठता है—यही कहलाता है ज्ञानचक्षुका उन्मीलन। आनन्दके दृश्यरूपमें उपनीत होनेपर द्रष्टारूपी चित् आवरणमुक्त होकर उसी क्षण उसे धारण कर लेता है। इष्टका आविर्भाव, तथा जिस दृष्टिके द्वारा इष्ट-दर्शन होता है उसका आविर्भाव एक ही समय सम्पन्न होता है। यही चित्-चक्षु, ज्ञान-नेत्र अथवा द्रष्टारूपी पुरुष है। चित् अपने ही प्रकाशमें आनन्दको साक्षात्कार करता है—बाह्यालोक और इन्द्रिय, तथा आन्तर आलोक और अन्तःकरण, किसीकी भी आवश्यकता नहीं रहती। यह जो चिदालोक है सो दर्पण-रूप है। इसमें प्रतिबिम्बित आनन्दरूपमें अपना ही दर्शन होता है। प्रकृत इष्टदर्शनके समय आकाश नहीं रहता तथा देश-काल भी नहीं रहते। आकाश, देश, काल तथा अन्यान्य वैचित्र्य इष्टके अन्तर्गत और अनुगतरूपमें ही उपलब्ध होते हैं। इष्ट आकाशादिसे व्यापक होता है, आकाशादि इष्टसे व्यापक नहीं होते।

जिसे इष्ट-दर्शन हो जाता है उसके सामने संसार पूर्व-परिचितरूपमें फिर वर्तमान नहीं होता, उस समय एकमात्र इष्ट ही उस सिद्ध साधकके सामने भासमान होता है। यदि बाहर

जगत् है तो फिर इष्ट-दर्शन क्या हुआ ! हम जो बाह्य दृश्य और प्रपञ्च देखते हैं, उसे पूर्ववत् देखते रहें तो फिर इष्ट-दर्शन कहाँ हुआ ! देश-काल-जगत् प्रभृति सभी रहते हैं, परन्तु इष्टसे बाहर नहीं—इष्टके अन्तर्गत रहते हैं। अतएव एक बार इष्टदर्शन हो जानेपर जगत्की प्रत्येक वस्तुमें ही उसका दर्शन होता है। केवल यही बात नहीं है, इष्टमें भी जगत्की प्रत्येक वस्तुका दर्शन होता है। पश्चात् दोनोंको ही अभिन्नरूपमें एक साथ देखा जा सकता है। उसके बाद फिर दो नहीं रह जाते, एक ही वस्तु रहती है, यद्यपि वह एक ही अनन्त होती है। तब उसका दर्शन होता है। सबके अन्तमें द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति होती है, उस समय फिर द्रष्टा-दृश्य भेद नहीं रहता।

इष्ट-दर्शन शब्दसे किसी देवता-विशेषका दर्शन समझमें नहीं आता और आता भी है। किसी देवता-विशेषका भाव यदि चित्तमें प्रबल होता है तो उस देवता-विशेषके रूपमें ही इष्टका स्फुरण हो सकता है। परन्तु वस्तुतः यह रूप देवताका नहीं होता, इष्टका होता है। इस प्रकार रूपका कोई बन्धन नहीं रहता है। जिस-किसी आकारमें इष्टकी स्फूर्ति हो, इष्ट इष्ट ही है, देवता नहीं। इष्टको जाग्रत् किये बिना जैसे देवताकी आराधना हो सकती है, वैसे ही देवताभावके बिना भी इष्टकी आराधना हो सकती है। इष्ट शब्दसे केवल किसी एक निर्दिष्ट आकारविशिष्ट वस्तुका ही बोध होता हो, ऐसी बात नहीं है। तथापि निर्दिष्ट आकार इष्टका ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वस्तुतः इष्टदर्शनका नाम ही ज्ञानचक्षुका उन्मीलन है।

यह जान लेना चाहिये कि इष्टके साथ गुरुप्रदत्त बीजमन्त्रका वाच्य-वाचक या अभेद-सम्बन्ध है। गुरुप्रदत्त बीजमन्त्र ही साधकके क्षेत्र (खेत) में गिरकर इष्टरूपमें परिणत होता है। बीजके साथ वृक्षका जो सम्बन्ध है, गुरु-प्रदत्त मन्त्रके साथ इष्टका भी ठीक वही सम्बन्ध है। बीजसे जिस प्रकार प्राकृतिक नियमानुसार अपने-आप ही वृक्ष प्रकट होता है, उसी प्रकार गुरुशक्तिसे इष्टका आविर्भाव हुआ करता है। साधारणतः जैसे नाम और नामीमें अभेद माना जाता है, वैसी ही बात यहाँ भी है। इष्ट-साधनाकी विशेषता यह है कि इस मार्गमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका अनुशीलन एक ही साथ होता है।

कामके पत्र

(१)

धन और अधिकारका मोह

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। विलम्बके लिये क्षमा करें। आपने वर्तमान परिस्थितिपर विचार प्रकट किये, सो पढ़े। मेरी समझसे आपके विचार ठीक नहीं हैं; परंतु आप क्या करते। इस समय मनुष्यका मानसिक स्तर इतना नीचे उतर आया है कि उसमें ऐसे ही विचार आया करते हैं और इन्हींमें उसको भलाई प्रतीत होती है। जब समाजमें श्रेष्ठताका मानदण्ड 'धन और अधिकार' हो जाता है, तथा धन और अधिकारके उपार्जनकी पवित्रता और उनके सदुपयोगपर दृष्टि नहीं रहती, तब उस समाजका पतन हो जाता है। क्योंकि उस समय समाजके अधिकांश मनुष्योंकी प्रबल कामना 'धन और अधिकार' को प्राप्त करनेकी हो जाती है, चाहे वे किसी साधनसे प्राप्त हों। और संसारमें विषयोंकी कहीं इति नहीं है। इसलिये कितना भी धन या अधिकार प्राप्त हो जाय, कमी बनी ही रहती है, वरं जितना ही अधिक धन और अधिकार मिलता है, उतनी ही अधिक कामना बढ़ती है, वैसे ही जैसे जितनी बड़ी आग होती है, उतनी ही उसकी ईंधनकी भूख बढ़ जाती है। और इस प्रकार धन और अधिकारको प्राप्त कामनाग्रस्त मोहावृत मनुष्योंके द्वारा दूसरे लोग वैसे ही अधिक जलाये जाते हैं, जैसे बड़ी आगकी आँच दूर-दूरतक फैलकर सबको झुलस देती है। सारांश यह कि इनके 'धन और अधिकार' का भी दुरुपयोग ही होता है। उनसे साधारण लोगोंको सुख नहीं पहुँचता वरं उनका दुःख ही बढ़ता है और फिर उनको अपने इन कार्योंके लिये कोई पश्चात्ताप भी

नहीं होता। वे इसीको लोकसेवा मानते हैं, और जरा भी सच्ची आलोचना करनेवालोंको अपना विरोधी या शत्रु मानकर अपनी शक्तिको उनकी जबान बंद करनेमें लगा देते हैं। आपके विचार, क्षमा कीजियेगा, कुछ इसी प्रकारकी मनोवृत्तिको लेकर हैं।

आपके पास धन या अधिकार हैं तो उनका सदुपयोग कीजिये और यदि वे धन और अधिकार बुरे साधनोंसे प्राप्त हुए हैं तो उनके लिये पश्चात्ताप कीजिये। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि फिर ऐसी दुर्बुद्धि न हो। 'धन और अधिकार' यहीं रह जायँगे। इन विनाशी पदार्थोंके लिये सत्य और धर्मको तिलाञ्जलि देना बहुत बड़ी मूर्खता है। और हम आज बड़े गौरवके साथ यही कर रहे हैं! पता नहीं, अभी हमें पतनके किस गहरे गर्तमें गिरना है! 'धन और अधिकार'का मोह आज इतना बढ़ गया है कि इसके कारण आज सारे समाजमें मानस-रोग बढ़ रहे हैं। जहाँ देखिये, वहीं दलबंदी, एक-दूसरेको गिरानेकी चेष्टा, गंदा स्वार्थ और उस स्वार्थ-साधनके लिये न्यायान्यायके विचारसे रहित उद्दाम आसुरी प्रयत्न! यह याद रखना चाहिये कि शरीरका बड़े-से-बड़ा रोग मृत्युके साथ ही मर जाता है; परंतु मानसिक रोग मरनेके बाद भी साथ जाते हैं और जन्म-जन्मान्तरतक यन्त्रणा देते एवं नये-नये पाप करवाते रहते हैं। आपलोग समझदार हैं, बहुत-से लोग आप लोगोंको आदर्श मानते हैं, और आपके बनाये हुए पथ-पर चलनेमें अपना कल्याण समझते हैं, इसलिये आपपर विशेष दायित्व है। आप अपने इस दायित्वको समझें और स्वयं पतनसे बचकर दूसरोंको भी पतनसे बचानेमें सहायक हों। यही आपसे मेरा विनयपूर्वक अनुरोध है।

समाज-सेवा और देश-सेवाके लिये 'सरकारी पद' ही आवश्यक नहीं है और न लोक-सेवाके लिये केवल धनकी ही आवश्यकता है। जो लोग सरकारी पदोंपर नहीं हैं और सर्वथा निष्किञ्चन हैं, पर जिनकी सेवा करनेकी सच्ची इच्छा है, उनके लिये समाज, देश और लोक-सेवाके लिये बड़ा विस्तृत क्षेत्र मौजूद है। वरं यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि जो लोग पदोंके बन्धनमें नहीं हैं और जिनके पास अभिमान तथा मोहके प्रधान हेतुरूप धनका अभाव है, वे ही अधिक उत्तम और अधिक सात्त्विक भावसे ठोस सेवा कर सकते हैं। हमको जब समाज-सेवा ही करनी है, तब अधिकारका मोह क्यों होना चाहिये और क्यों इसके लिये इतनी पैंतरेबाजी करनेकी बात सोचनी चाहिये। भगवान् हम लोगोंको इस मोहसे मुक्त करें। मैंने जो कुछ लिखा है, शुद्ध प्रेमके कारण लिखा है। शब्दोंकी रूक्षताके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

(२)

तीन विश्वास आवश्यक हैं

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आज जो इतनी विपत्तियाँ आयी हुई हैं, चारों ओर सन्देह और भय छाया है तथा भगवत्प्राप्तिके लिये इतनी बात सुननेपर भी तनिक भी उत्साह नहीं है, इसमें प्रधान कारण है 'भगवान्‌में विश्वासका अभाव।' भगवान्‌में विश्वास होते ही जीवको ऐसा दिव्य प्रकाश मिलता है कि फिर सन्देह, भय, भ्रम और विपत्तिका सारा कुहासा कट जाता है, सारा अन्धकार मिट जाता है एवं अज्ञानका अपार आवरण तुरंत हट जाता है। तीन प्रकारके विश्वासकी आवश्यकता है—१. भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास। २. भगवान् जीवोंको मिलते हैं, यह विश्वास और ३. हमें भी अवश्य मिलेंगे यह विश्वास।

जबतक भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास नहीं होता, तबतक उन्हें प्राप्त करने और उनके सहज स्नेहमय स्वभावसे और उनकी शरणागतवत्सलतासे लाभ उठानेका

कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये सबसे पहले यह विश्वास होना चाहिये कि भगवान् हैं।

'भगवान् हैं, पर वे समस्त ईश्वरोंके महान् ईश्वर हैं; अपने दिव्यलोकमें पार्षदोंके साथ रहते हैं अथवा समस्त संसारमें बर्फमें जलकी भाँति ओत-प्रोत हैं। वे किसी एकसे मिलेंगे क्यों। उनके मिलन-सुखका अनुभव जीवको क्यों होने लगा।' ऐसा सन्देह रहनेपर भी हमारे मनमें उनके साक्षात्कार करनेका कोई मनोरथ या उत्साह नहीं होगा। इसलिये यह दूसरा विश्वास होना चाहिये कि वे सर्वेश्वर, दिव्यधामवासी और नित्य सर्वगत तथा सर्वरूप होनेपर भी साधनसिद्ध पुरुषोंको दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं।

'मान लिया भगवान् हैं और वे सिद्ध साधकोंको मिलते हैं; पर हम-जैसे साधनहीन विषयी पामर जीवोंको क्यों मिलेंगे। वे मिलेंगे तपस्वियोंको, योगियोंको, अपने प्यारे भक्तोंको और अपने आत्मरूप ज्ञानियोंको। हम-सरीखे तप, त्याग, प्रेम और ज्ञानसे रहित मनुष्य उनके मिलनेकी कैसे आशा करें?' ऐसा सन्देह बना रहेगा तब भी भगवान्के मिलनेकी स्फूर्ति और उत्कट इच्छा नहीं होगी। मनुष्य समझेगा कि हमारे लिये तो भगवान् आकाशकुसुमके समान सर्वथा दुर्लभ ही हैं। इसलिये तीसरा यह विश्वास होना चाहिये कि भगवान् सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा और सर्वरूप होनेके साथ ही जीवमात्रके अकारण प्रेमी—परम सुहृद् हैं। जो उनसे मिलना चाहता है, उसीसे मिल लेते हैं। जरा भी भेदमात्र नहीं करते। ऐसे दयालु हैं कि पूर्व जीवनके कृत्योंकी ओर ध्यान नहीं देते। वे देखते हैं केवल वर्तमान समयकी उसकी इच्छाको। यदि वह मिलनेके लिये आतुर है तो वे भी आतुर हो जाते हैं और तुरंत उसको दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं। ज्ञानी, प्रेमी, विषयी, पामर या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल अथवा पुरुष या स्त्री—कुछ भी नहीं देखते। न यही देखते हैं कि यह अभीतक दारुण पाप कर रहा था। वे तो वर्तमान क्षणका मन देखते हैं और उसमें यदि सचाई और अनन्याश्रय पाते हैं तो बस, सब कुछ भुलाकर उसे अपना लेते हैं, अपने हाथों—'स्नेहमयी जननीके द्वारा बच्चेके मलको धो डालनेके समान—उसकी सम्पूर्ण पापराशिको धो डालते हैं और उसे परम पवित्र, स्वच्छ, शुद्ध बनाकर अपनी गोदमें बैठा लेते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

भगवान्ने गीताजीमें कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९। ३०–३३)

'दारुण पाप करनेवाला पुरुष भी यदि अनन्यभावसे (एकमात्र मुझहीको त्राणकर्ता और शरण्य मानकर) भजता है तो उसे 'साधु' मान लेना चाहिये; क्योंकि उसका निश्चय (अनन्यभावसे मुझे भजनेका निश्चय) यथार्थ है। ऐसा करनेवाला (पापी) मनुष्य तुरंत ही धर्मात्मा बन जाता है और सनातनी परमा शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भैया! तुम निश्चयपूर्वक सत्य समझो कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता। (जो अबतक महापापी था, वही तुरंत साधु, भक्त और परम शान्तिका अधिकारी हो गया, यह है भगवान्के पतितपावन स्वभावका महत्त्व) अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्र यहाँतक कि पापयोनिवाले भी यदि मेरा आश्रय ले लेते हैं तो वे भी परम गतिको ही प्राप्त होते हैं, फिर पुण्यशील ब्राह्मण, राजर्षि भक्त क्षत्रियोंके लिये तो कहना ही क्य

है ? अतएव इस सुखरहित और अनित्य मानव-शरीरको पाकर तुम मुझको ही भजो ।'

इससे सिद्ध है कि भगवान् नीच-से-नीच प्राणीको भी मिल सकते हैं, क्योंकि वे 'सभी प्राणियोंके सुहृद्' ('सुहृदं सर्वभूतानाम्') हैं, इसलिये हमको भी अवश्य ही मिलेंगे ।

ये तीन विश्वास जब मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न हो जाते हैं तो फिर भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता और यह तो कहना ही व्यर्थ है कि भगवत्प्राप्तिके साथ ही सारे दुःख-द्वन्द्व सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं ।

(३)

श्रेष्ठ साध्यके लिये श्रेष्ठ साधन ही आवश्यक है

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । आपने लिखा कि 'एक आदमी चाहता है कि मैं बहुत धन कमाकर उसके द्वारा लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके पवित्र कार्य करूँ । परंतु धन कमानेमें असत्य, छल, कपट, चोरी, हिंसा, दूसरोंका स्वत्वहरण और बहीखातोंमें झूठा जमा-खर्च आदि करने पड़ते हैं । इनके बिना काम ही नहीं चलता । ये न किये जायँ तो आजकल सीधे उपायसे धन आना असम्भव है और धनके न होनेपर लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके कार्य नहीं हो सकते । ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये ? क्या श्रेष्ठ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इस प्रकारके अनिवार्य दोषोंका स्वीकार करना पाप है ? जब साध्य उत्तम है, कर्ताका भाव शुद्ध है और उसकी नीयत अच्छी है, तब फिर साधन यदि निकृष्ट भी हों तो क्या हानि है ? भगवत्प्राप्तिके लिये यदि कभी निषिद्ध कर्म भी करने पड़ें तो क्या वह कोई बुरी बात है ?'

इसका सीधा उत्तर यह है कि फल वही होता है, जिसका बीज होता है । जब साधन निकृष्ट है, तब साध्य श्रेष्ठ कहाँसे आवेगा ? एक आदमीका सर्वथा शुद्ध उद्देश्य है कि मुझको आम मिले, उसका भाव भी यही है और नीयत भी अच्छी है; पर वह बोता है आकके बीज, तो बताइये उसे आम कहाँसे मिलेंगे । इसी प्रकार नीयत, उद्देश्य और भाव कुछ भी हो—झूठ, कपट, छल, चोरी और हिंसा आदि साधनोंसे सच्ची लोकसेवा और भगवत्सेवारूपी परिणाम कभी नहीं हो सकता । बुरेका अच्छा फल होगा यह तो अज्ञानविमोहित आसुरी भाव-वालोंकी मान्यता है । वे कहते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
(१६ । १३-१५)

'आज यह कमाया, कल वह कमाऊँगा । मेरे पास इतना धन तो हो गया है, फिर और भी हो जायगा । मेरे उस शत्रु (एक मार्गके रोड़े) को तो मारकर हटा दिया गया है, शेष दूसरोंको भी मार दूँगा। मैं सत्ताधीश हूँ, मैं भोगमें समर्थ हूँ, मैं सफलताओंका केन्द्र हूँ, मैं बलवान् हूँ और सुखी हूँ। मैं धनी हूँ, मैं जनवान् हूँ—जनता मेरे पीछे चलती है, मेरे समान दूसरा है कौन । मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आनन्द लूटूँगा (भगवान् कहते हैं) वे इस प्रकारके अज्ञानसे विमोहित हैं ।'

बुरेका फल अच्छा कभी हो नहीं सकता । श्री-तुलसीदासजी महाराजने कहा है—'साधन सिद्धि राम पग नेहू ।' भगवच्चरणोंमें प्रेम ही साधन है और वही साध्य है । वस्तुतः साधनके स्वरूपपर ही साध्यका स्वरूप निर्भर करता है । इसलिये मनमें किसी भी साध्यकी कल्पना हो, साधकको तो पहले साधनकी श्रेष्ठता ही देखनी है । अतएव 'साध्य उत्तम हो तो साधन निकृष्ट होनेपर भी कोई हानि नहीं है' ऐसा मानना भ्रमपूर्ण है ।

धनके द्वारा लोक-सेवा और भगवत्सेवाकी भावना उत्तम है (यद्यपि केवल धनके द्वारा सेवा बनती नहीं, उसके लिये तो सेवाके योग्य मन चाहिये) परंतु इसका क्या निश्चय है कि मनुष्य अपने इच्छानुसार धन कमा ही लेगा । सम्भव है, जीवनभर जीतोड़ प्रयत्न करनेपर भी धन न मिले । कदाचित् मिल भी गया तो फिर यह कौन कह सकता है कि उस समय लोक-सेवा और भगवत्सेवाकी विशुद्ध भावना बनी ही रहेगी । सच्ची और युक्तिसङ्गत बात तो यह है कि असत्य, चोरी, छल, कपट, हिंसा आदि दुष्ट साधनोंमें लगे रहनेसे चित्तकी अशुद्धि बढ़ जायगी और अशुद्ध चित्तमें शुद्ध भावनाओंका टिकना सम्भव नहीं है । अतएव लोक-सेवा और भगवत्सेवा नहीं बन सकेगी । लोक-सेवा और भगवत्सेवाके नामपर कहीं कोई दम्भ भले ही बन जाय । हाँ, एक फल अवश्य होगा, जीवनभर दूषित कर्मोंमें लगे रहनेसे पापोंकी वृद्धि होगी । दूषित संस्कारोंके कारण अन्तकालमें बुरी वस्तुका चिन्तन होगा और परिणामस्वरूप बुरी गति अवश्य प्राप्त होगी ।

अवश्य ही कुछ समझदारलोग भी ऐसा मानते हैं कि 'साध्य उत्तम है तो फिर साधन कैसा भी क्यों न हो । हमें तो साध्यको प्राप्त करना है, फिर चाहे वह किसी भी साधनसे हो ।' पर यह बड़ी भूल है । जैसा साधन होगा, वैसा ही साध्य बनेगा और जैसा साध्य होगा, वैसा ही साधन होगा । यदि किसीका साधन निकृष्ट है तो सच मानना चाहिये कि उसका साध्य भी श्रेष्ठ नहीं है, भले ही वह भूलसे, धोखेसे या दम्भसे अपने साध्यको श्रेष्ठ कहता हो । चोरी करके साधु-सेवा करना, अतिथि-सत्कारके लिये व्यभिचार करना, भगवान्की पूजाके लिये द्वेषपूर्वक हिंसा करना, वैर और क्रोधके द्वारा धर्मकी रक्षा करना, दम्भ करके भगवान्को प्रसन्न करना और आत्महत्या करके भगवान्को पा लेना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो किसी विशेष परिस्थितिमें विशेष व्यक्तियोंद्वारा हुई हों, पर वे अपवाद हैं, नियम कदापि नहीं है । नियम तो यही है कि साधन उत्तम होगा, तभी साध्य उत्तम होगा ।

फिर जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे तो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भी नीच कर्मको कदापि स्वीकार नहीं करेंगे । भगवान्से मिलना अवश्य है, भगवत्प्रेम अवश्य चाहिये, पर वह चाहिये भगवान्के अनुकूल परम श्रेष्ठ शास्त्रीय साधनोंके द्वारा ही । निषिद्ध कर्मके द्वारा कहीं भगवान् या भगवत्प्रेम मिलता भी हो तो श्रेष्ठ पुरुष उसे स्वीकार नहीं कर सकते । इसीलिये प्रेमी भक्त अपने भगवान्से यहाँतक कह दिया करते हैं कि 'भगवन् ! हमें तो तुम्हारा भजन प्यारा है । यदि तुम्हारी प्राप्ति हो जानेपर तुम्हारा भजन छूटता हो तो हम ऐसी प्राप्ति नहीं चाहते । हमें चाहे जहाँ, चाहे जैसी परिस्थितिमें रहना पड़े पर तुम्हारा प्रेमपूरित भजन कभी न छूटे । हमें सुगति, सुमति, सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि और विशाल कीर्ति नहीं चाहिये । हमारा तो बस, तुम्हारे युगलचरणकमलोंमें नित नया अनुराग ही बढ़ता रहे—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई ॥

गोस्वामीजीने दोहावलीमें कह दिया है कि मुझे नरकमें रहना स्वीकार है, यदि राम-प्रेमका फल अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हो तो इन चारों पुरुषार्थ-शिशुओं-को मौत डाकिनी खा जाय । मुझे तो केवल 'रामप्रेम' चाहिये । यदि रामप्रेमका और कोई फल भी होता हो तो उसमें आग लग जाय ।

परौं नरक फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ ।
'तुलसी' राम-सनेहको जो फल सो जरि जाउ ॥

(४)

जगत् पतन तथा दुःखकी ओर जा रहा है

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला गया ।

विलम्बसे उत्तर जा रहा है, क्षमा करें। मनुष्य जो यह चाहता है 'पहले प्रतिपक्षी मेरे साथ अच्छा बर्ताव करेगा, तब मैं उसके साथ अच्छा बर्ताव करूँगा।' यह उसकी भूल है। क्योंकि जैसा वह चाहता है, वैसा ही उसका प्रतिपक्षी भी चाहता होगा। फिर अच्छाईकी पहल कौन करेगा ? बुद्धिमानी तो इसीमें है कि दूसरा बुरा करे तब भी हम तो उसका भला ही करें। भलाईकी पहल करनेमें संकोच और लज्जा होना तो पाप-बुद्धिका ही परिचायक है। वस्तुतः कल्याणकामी पुरुषको कभी भी किसीके साथ असत् व्यवहार करना ही नहीं चाहिये। कोई मेरे साथ बुराई करता है, इसलिये, बुराईको बुराई मानता और कहता हुआ भी अभिमान-वश, मैं भी उसके प्रति बुराई करूँ। दूसरा जहर खाता है तो मैं भी खाऊँ। यह कोई समझदारीकी बात नहीं है। भला मनुष्य अपनी भलाईको कैसे छोड़े ? वह अपने स्वभावसे क्यों च्युत हो ? असलमें अपना स्वार्थ भी भलाई करनेमें ही है। प्रत्येक मनुष्यके लिये यही बात है। फिर जो, परमार्थके साधक हैं, उनको तो संतोंका आदर्श ग्रहण करना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीशङ्करजीके वचन हैं—

उमा संतकी यही बड़ाई। मंद करत सो करत भलाई॥

'संतकी यही महिमा है कि वह बुराई करनेपर भी उसके साथ भलाई करता है।' फिर उन्होंने चन्दनकी उपमा देकर समझाया है—जो कुठार चन्दनको काटता है, चन्दन उस कुठारकी लकड़ीकी मूठमें अपना गुण सुगन्धि भर देता है—

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

इसलिये बुराई करनेवालेके साथ भलाई ही करनी चाहिये और सात्त्विक साहसके साथ उसकी पहल भी अपनी ओरसे ही होनी चाहिये। इसमें जरा भी संकोच या अपमानका बोध नहीं होना चाहिये। इस अपमानका यदि पुरस्कार प्राप्त करना हो तो भगवान्‌के यहाँसे बड़ा सुन्दर पुरस्कार भी मिल सकता है।

आपने लिखा कि 'विकासवादके सिद्धान्तके अनुसार उत्तरोत्तर उन्नति होनी चाहिये और भौतिक उन्नति हो भी रही है। पर लोगोंके मनोंमें पाप-भावना बढ़ती जा रही है तो क्या भौतिक उन्नतिको ही उन्नति मानना चाहिये और यदि ऐसा नहीं है तो इसका क्या परिणाम होगा ?'

इसका उत्तर यह है कि मेरी समझसे तो यह विकासवादका सिद्धान्त ही सर्वथा भ्रमपूर्ण है। कुछ ही सहस्र वर्ष पूर्व जंगलोंमें रहनेवाली असभ्य जातिके लोग वर्तमान भौतिक उन्नतिको देखकर ऐसा कहें तो वे कह सकते हैं; परंतु भारतवर्षकी अत्यन्त प्राचीन संस्कृतिकी सत्ता और महत्ताको जाननेवाले लोग ऐसा कभी नहीं मान सकते। हमारा तो यह सिद्धान्त है कि अच्छा-बुरा समय चक्रवत् आता-जाता रहता है। सत्ययुगके बाद क्रमशः कलियुग आता है और कलियुगके बाद पुनः सत्ययुग। इस समय कलियुगके प्रारम्भका सन्धि-काल चल रहा है। अतएव इस समय जगत्‌की गति वस्तुतः उन्नतिकी ओर नहीं, पर अवनतिकी ओर है। उन्नति-अवनतिकी कसौटी चमत्कारपूर्ण भौतिक साधनोंका आविष्कार नहीं है। उसकी सच्ची कसौटी है समष्टिके मनकी उच्चतम सात्त्विक स्थिति। यदि समष्टिमें गीतोक्त दैवी-सम्पत्ति बढ़ रही है तो समझना चाहिये, उन्नति हो रही है, और आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है तो अवनति हो रही है। भौतिक उन्नतिसे न इसका विरोध है, न मेल। बड़ी-सी-बड़ी भौतिक सम्पत्तिके साथ भी दैवी-सम्पत्ति रह सकती है और भौतिक सम्पत्तिके सर्वथा अभावमें भी आसुरी सम्पत्ति आ सकती है। हमारे प्राचीन युगोंमें भौतिक सम्पत्तिकी पूर्ण प्रचुरता थी; परंतु उसका प्रयोग होता था सात्त्विक-भावापन्न पुरुषोंकी सुबुद्धिके द्वारा वास्तविक जनकल्याण-

कारी कार्योंमें। आजकी भौतिक सम्पत्ति ऐसी नहीं है। अणुशक्तिका आविष्कार भौतिक उन्नतिका एक अद्भुत उदाहरण है, परंतु मनुष्यकी राक्षसी और आसुरी बुद्धिके कारण उसका प्रथम प्रयोग होता है क्रूरतापूर्ण विपुल जनसंहारमें ! आज भी बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंके मस्तिष्क आसुरी बुद्धिकी प्रेरणासे इसी नर-संहारके अनुसन्धानमें लगे हैं और इसमें बड़े गर्वका अनुभव कर रहे हैं। आसुरी-सम्पत्तिका अवश्यम्भावी परिणाम श्रीभगवान् बतलाते हैं—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(१६। १६, १९, २०)

वे अनेक प्रकारकी कामनाओंसे भ्रमितचित्त हुए, मोहजालमें फँसे हुए और विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति रखनेवाले लोग अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं। उन द्वेष-हृदय, क्रूरकर्मा पापपरायण नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरीयोनियोंमें गिराता हूँ। अर्जुन ! वे मूढ़ मनुष्य (मानव-जीवनके चरम और परम फलरूप) मुझ भगवान्को न पाकर कई जन्मोंतक लगातार आसुरी-योनिको प्राप्त होते हैं और फिर उससे भी अधिक बहुत नीची अधम गतिको जाते हैं—नरकाग्निमें पचते हैं।

इससे यह सहज ही सिद्ध है कि जिस अनुपातसे आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है, उसी अनुपातसे दुःख भी बढ़ेगा। किसी विषयके विचार पहले मनमें आते हैं, फिर वाणीमें और तदनन्तर वैसा कार्य होता है, एवं तब उसीके अनुसार फल होता है। आज जगत्के अधिकांश लोगोंके मनोंमें दम्भ, दर्प, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, प्रतिहिंसा, मान, अभिमान, ईर्षा और असूया आदिके कुत्सित विचार बड़ी तेजीसे बढ़ रहे हैं और तदनुसार चोरी, असत्य, लूट, हिंसा, व्यभिचार आदि असत् कार्योंकी मात्रा भी बढ़ रही है। इसी अनुपातसे बीजफल-न्यायके अनुसार इनका भयानक परिणाम भी अवश्य होगा ! यहाँ भी दुःख बढ़ेंगे और परलोकमें भी दुःखोंकी ज्वाला अधिक धधकेगी। भीषण दुःखोंकी आगमें जलनेके बाद सम्भव है, कलियुगकी महादशामें भी कुछ समयके लिये सत्ययुग-त्रेताका प्रत्यन्तर आवे। पर उसके पहले एक बार तो भीषण पतन और दुःखोंका आना अनिवार्य-सा प्रतीत होता है !

(५)

परदोष-दर्शनसे बड़ी हानि

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने ......में जो-जो दोष बतलाये हैं, सम्भव है इनमेंसे कुछ उनमें हों। यह भी सम्भव है कि उनमें बहुत थोड़े दोष हों और आपको अधिक दिखायी पड़ते हों। यह नियम है कि जिसमें राग होता है उसके दोष भी गुण दीखते हैं, और जिसमें द्वेष होता है उसके गुण भी दोष दीखते हैं। फिर, दोष देखते-देखते जब दोष-दर्शनका स्वभाव बन जाता है तब दूसरोंके थोड़े दोष भी बहुत अधिक दीखते हैं और कहीं-कहीं तो बिना ही हुए दीखने लगते हैं। ऐसे लोगोंको, द्वेष रखनेवालोंकी बात तो दूर रही, भगवान्तकमें दोष दिखलायी देते हैं। इसीलिये संतोंने दूसरोंके दोष देखने और दूसरोंकी निन्दा करनेको साधनका एक बहुत बड़ा विघ्न बतलाया है। क्योंकि दोषदर्शीके मन, बुद्धि और वाणी नित्य-निरन्तर दोषोंके जगत्में ही विचरते हैं, वे स्वप्नतकमें भी पराये दोषोंकी ही आलोचना करते हैं। परिणाम यह होता है कि भाँति-भाँतिके दोषोंके चित्र उनके चित्त-पटपर अङ्कित होते चले जाते हैं। वाणीमें असत्य, निन्दा, पैशुन, परापवाद

तथा परापकारका दोष आ जाता है। दोष-दर्शनके कारण दोषी दीखनेवाले व्यक्तियोंके कार्योंको देखने और उनका स्मरण करनेसे हृदयमें जलन होती है। फलतः द्रोह, वैर बद्धमूल होकर क्रोध और हिंसाकी क्रियाएँ होने लगती हैं। वैर यहीं समाप्त नहीं होता, वह मरनेके बाद परलोक और पुनर्जन्ममें भी साथ रहता है। इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष कभी किसीका दोष नहीं देखते और न वे कभी परदोषकी चर्चा करके ही पाप बटोरते हैं। वे वस्तुतः बड़े ही भाग्यवान् पुरुष हैं, जिनके मनसे कभी परदोषका चिन्तन नहीं होता और जिनकी वाणीसे कभी पर-दोषका कथन नहीं होता। श्रेयस्कामी पुरुषको तो अपने ही दोषोंसे अवकाश नहीं मिलता, फिर वह दूसरोंके दोषोंको देखनेके लिये तो समय ही कहाँसे लावे? पर हमारा स्वभाव तो इतना बिगड़ गया है कि हम अपने दोषोंकी ओर तो कभी दृष्टि ही नहीं डालते और दूसरोंके दोषोंको हजार आँखोंसे देखते हैं। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

'आप पापको नगर बसावत सहि न सकत पर-खेरो।'

महाभारतमें आता है—

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि।
आत्मनो विल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि॥

(आदिपर्व ७४। ८२)

(शकुन्तला कहती है—) 'राजन्! दूसरेका सरसों-जितना छोटा-सा छिद्र भी आप देख रहे हैं और अपना छिद्र बेलके जितना बड़ा है पर आप उसे देखकर भी नहीं देखते।'

राग-द्वेष न होनेके कारण जिनकी बुद्धिरूपी आँखें वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखती हैं, वे यदि स्वाभाविक सौहार्दवश किसीको दोषमुक्त करनेके लिये प्रेमपूर्वक उसके दोषोंको बतलावें तो इसमें आपत्ति नहीं है। पर इस प्रकार निर्दोष बुद्धिसे दोष देखने और बतानेवाले व्यक्ति विरले ही होते हैं। आजकल तो अपने सच्चे और प्रसिद्ध दोषोंको वागाडम्बरसे छिपाकर अपनेमें झूठे गुणोंका आरोप किया जाता है और उनका ढिंढोरा पीटा जाता है, एवं दूसरेके सच्चे गुणोंपर दोषोंका मिथ्या आरोप करके उनकी निन्दा की जाती है। राजनीतिक क्षेत्रमें तो यह व्यवहार जीवनका एक आवश्यक अङ्ग-सा बन गया है। जन-तन्त्रके नामपर होनेवाले चुनावोंमें यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जनताका नेतृत्व करनेवाले बड़े-बड़े सुशिक्षित महानुभाव वोटोंके लिये किस प्रकारसे मिथ्या आत्म-विज्ञापन करते हैं और प्रतिपक्षीकी मिथ्या निन्दा करके उसको गिरानेका कैसा निन्दनीय और जघन्य प्रयत्न करते हैं एवं इस नंगे नाचमें उन्हें जरा भी लज्जा नहीं आती, बल्कि इसीमें गौरव माना जाता है और विजयकी बधाइयाँ बाँटी जाती हैं। इस दशामें दोष देखनेकी प्रवृत्ति कैसे दूर हो?

इसका एक ही उपाय है और वह यह है कि अपने दोषोंको नित्य-निरन्तर बड़ी सावधानीसे देखते रहना, ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि रखना कि मन कभी धोखा दे ही न सके और क्षुद्र-से-क्षुद्र दोष भी छिपा न रहे। साथ ही यह हो कि दोषको कभी सहन नहीं किया जाय, चाहे वह छोटे-से-छोटा ही हो। इस प्रकार करनेपर अपने दोष मिटते रहेंगे और दूसरोंके दोषोंका दर्शन और चिन्तन क्रमशः बंद हो जायगा। अपने दोष एक बार दीखने लगनेपर फिर वे इतने अधिक दीखेंगे कि उनके सामने दूसरोंके दोष नगण्य प्रतीत होंगे और उन्हें देखते लज्जा आवेगी। कबीरजीने कहा है—

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

जो साधनसम्पन्न बड़भागी पुरुष अपने दोष देखने लगते हैं, उनके दोष मिटते देर नहीं लगती। फिर यदि उनको अपनेमें कहीं जरा-सा भी कोई दोष दीख जाता है तो वे उसे सहन नहीं कर सकते और पुकार उठते

हैं कि 'मेरे समान पापी जगत्में दूसरा कोई नहीं है।' एक बार महात्मा गाँधीजीसे किसीने पूछा था कि 'जब सूरदास, तुलसीदास-सरीखे महात्मा अपनेको महापापी बतलाते हैं, तब हमलोग बड़े-बड़े पाप करनेपर भी अपनेको पापी मानकर सकुचाते नहीं, इसमें क्या कारण है?' महात्माजीने इसके उत्तरमें कहा था कि 'पाप मापनेकी उनकी गज दूसरी थी और हमारी दूसरी है।' सारांश यह कि दूसरोंके दोष तो उनको दीखते नहीं थे और अपना क्षुद्र-सा दोष वे सहन नहीं कर सकते थे। मान लीजिये, भक्त सूरदासजीको कभी क्षणभरके लिये भगवान्की विस्मृति हो गयी और जगत्का कोई दृश्य मनमें आ गया, बस, इतनेसे ही उनका हृदय व्याकुल होकर पुकार उठा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी॥

× × × ×

मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर आत्म-निरीक्षण करता रहे और घंटे-घंटेमें बड़ी सावधानीसे यह देखता रहे कि इतने समयमें मन, वाणी, शरीरसे मेरे द्वारा कितने और कौन-कौन-से दोष बने हैं। और भविष्यमें दोष न बननेके लिये भगवान्के बलपर निश्चय करें तथा भगवान्से प्रार्थना करे वे ऐसा बल दें।

अतएव आपसे मेरा यही विनम्र अनुरोध है कि आप उनके दोषोंको न देखकर गहराईसे अपनी ओर देखिये। सावधानीसे देखिये। आपको इतना तो अवश्य ही दिखायी देगा कि आप उनमें जिन दोषोंको देखकर उनको बुरा व्यक्ति मानते हैं, ठीक वे ही दोष उतनी ही या कुछ न्यूनाधिक मात्रामें आपमें भी मौजूद हैं। ऐसा हो जानेपर आप अपने दोषोंके लिये पश्चात्ताप कीजिये और भगवान्के बलपर उन्हें दूर करनेका पूर्ण प्रयत्न कीजिये। मनुष्यके लिये अपने दोषोंका देखना और उन्हें शीघ्र मिटाना जितना आसान है, उतना दूसरोंके दोषोंको देखना और मिटाना आसान नहीं है। यों आप अपने जीवनको निर्दोष बनाइये और जीवनके परम लक्ष्य श्रीभगवान्के दिव्य गुणोंमें मन, बुद्धिको लगाकर जीवनकी सफलता प्राप्त कीजिये। यही कल्याण-का मार्ग है।

(६)

सच्ची स्वतन्त्रता और विजय क्या है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका लंबा पत्र मिला। आपने स्वतन्त्रता और विजयके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किये, अवश्य ही उनका अपने क्षेत्रमें किसी अंशमें महत्त्व है, परंतु वास्तविक स्वतन्त्रता और विजय तो दूसरी ही है। सच्चा स्वतन्त्र वह है, जो मोहके बन्धनसे मुक्त हो गया हो और सच्चा विजयी वह है, जिसने अपने मन और इन्द्रियोंपर पूर्णरूपसे विजय प्राप्त कर ली हो। भौतिक बलसे भूमिपर तो काम-क्रोधपरायण राक्षसों और असुरों-का भी अधिकार हो सकता है। वे भी त्रैलोक्यविजयी होकर अपनेको परम स्वतन्त्र मान सकते हैं। प्राचीन कालके इतिहास और वर्तमानकी अनेक घटनाएँ इसमें प्रमाण हैं। परन्तु इन स्वतन्त्रताप्राप्त त्रैलोक्यविजयी व्यक्तियोंमें ऐसे कितने थे जो अपने मनकी कामना, वासनाओंको जीतकर काम, क्रोध, लोभरूपी आभ्यन्तरिक शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर चुके हों। ऐसा तो वे ही लोग कर पाते हैं, जो कठोर आत्मसंयमके नियमोंके बन्धनमें रहकर अपनेको इसका सुयोग्य अधिकारी बना लेते हैं। संयमके कठोर बन्धनसे ही मन-इन्द्रियोंके दासत्वकी बेड़ियाँ कटती हैं। जीव मन-इन्द्रियोंका स्वामी है। उनसे बलवान् और श्रेष्ठ है, परन्तु अपने बलको भूलकर वह इनका दास बना हुआ है और इनके वशमें होकर विषयोंमें आसक्त हो रहा है। फलतः नाना प्रकारके दुष्कर्म और पाप करनेमें प्रवृत्त होता है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था कि मन-इन्द्रियोंमें बसनेवाला और भोगोंकी बड़ी-से-बड़ी मात्रासे भी न अघानेवाला यह पापी काम ही मनुष्यका परम शत्रु है। यही क्रोध बन जाता है। अतएव महाबाहो! तुम इस कामरूपी भयङ्कर शत्रुको मारकर विजयी बनो—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

अतएव हमें इस वर्तमान बाहरी स्वतन्त्रतासे न तो फूलना चाहिये, न भूलना ही। स्मरण रखना चाहिये कि यदि इस स्वतन्त्रताने कहीं हमारे भीतरी शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सरादिको बढ़ा दिया तो हमें और भी अधिक मन-इन्द्रियोंकी गुलामी स्वीकार करनी पड़ेगी, हम और भी अधिक पराजित और परतन्त्र हो जायँगे। इसलिये हमें अपने अन्तरात्माकी ओर देखना चाहिये और इसी कसौटीपर कसकर निर्णय करना चाहिये कि हम वास्तवमें आजाद हुए हैं या नहीं। आजादीके नामपर कहीं बर्बाद तो नहीं हुए जा रहे हैं!!

विचारस्वातन्त्र्य और व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी दुहाई देकर प्रगतिके नामपर हम जो ऐसा कहते हैं कि 'हम किसी शास्त्रको, समाजको, बन्धनको और नियमको नहीं मानते। हम तो वही करेंगे, जो हमारे मनमें उचित जँचेगा।' इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि हमारी मानसिक गुलामी बढ़ रही है और हम स्वतन्त्रताके नामपर उच्छृङ्खलताकी उपासनामें लगे हैं एवं ऐसा करके अपनेको अधिक-से-अधिक बन्धनोंमें बाँध रहे हैं। भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(१६। २३)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त करता है और न परमगतिको तथा परमसुखको ही।'

हमें भौतिक स्वतन्त्रताके साथ ही आत्माकी स्वतन्त्रता—जो सच्ची स्वतन्त्रता है—प्राप्त करनी चाहिये और बाहरी विरोधियोंसे सम्बन्धविच्छेद करनेके साथ ही अपने अंदर बैठे हुए असत्य, हिंसा, काम, क्रोध, लोभ और वैर आदि शत्रुओंका भी समूल नाश करना चाहिये। यह काम भाषणों तथा लेखोंसे नहीं होगा। इसके लिये भगवत्कृपापर विश्वास करके साधना करनी पड़ेगी और यही अवश्य कर्तव्य है। भारतवर्षके पास तो यही परमधन है जिसकी रक्षा और वृद्धि करके इसे जगत्‌के त्रिताप-तप्त जीवोंमें वितरण करना चाहिये। ऐसा न करके हम यदि स्वतन्त्रता और विजयकी झूठी शानका डंका पीटते रहेंगे तो कुछ भी नहीं बनेगा। आत्मा परतन्त्र ही रहेगा और उसका और भी पतन होगा। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।'

(७)

शान्तिका अचूक साधन

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंके उत्तरमें निवेदन है—

(१) भगवान् विष्णु, राम, श्रीकृष्ण और शङ्करजी आदि भगवान्‌के जिस नाम-रूपमें आपकी विशेष रुचि हो, आप उसीको अपना परम इष्ट मानकर उनकी आराधना करें। असलमें एक ही भगवान्‌के ये सब विभिन्न स्वरूप हैं। इनमें छोटे-बड़ेकी भावना करना अपराध है। जिस स्वरूपमें अपनी निष्ठा हो, उसकी भक्ति करे और शेष स्वरूपोंके लिये यह माने कि मेरे ही इष्टदेव इन सब स्वरूपोंको धारण किये हुए हैं।

ऐसा मान लेनेपर न तो अनन्यतामें बाधा आती है और न किसी अन्य भगवत्-स्वरूपका अपमान ही होता है। जो लोग भगवान्‌के किसी भी स्वरूपकी निन्दा या अपमान करते हैं, वे वस्तुत: अपने ही भगवान्‌का तिरस्कार करते हैं।

(२) संसारमें जो कुछ है, सब भगवान्‌का ही रूप है और जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्‌की लीला है, परंतु जहाँ-जहाँपर विशेष विभूति और पूज्य सम्बन्ध हो, वहाँ विशेष रूपसे भगवान्‌की भावना करनी चाहिये। माता-पिताको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये और उनकी आज्ञाओंका पालन कर उन्हें सुख पहुँचाना चाहिये। इस प्रत्यक्ष भगवत्स्वरूपोंकी पूजा करनेसे भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं। भक्त पुण्डरीककी कथा प्रसिद्ध है। साथ ही गृहस्थके पालनके लिये धर्म और न्याययुक्त आजीविकाके कर्म भी भगवत्-पूजाके भावसे करने चाहिये। भगवत्पूजाका भाव रहनेपर प्रत्येक शास्त्रोक्त और वैध कर्म भगवान्‌का भजन बन जाता है।

माता-पिताकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करना निश्चय ही धर्म है, परंतु यदि वे पापकी आज्ञा दें—चोरी, हिंसा, व्यभिचार, असत्य आदिका आचरण करनेके लिये कहें तो उसे नहीं मानना चाहिये। माता-पिताकी आज्ञाका पालन करनेमें अपनेको बड़े-से-बड़ा त्याग करना पड़े, यहाँतक कि नरकमें भी जाना पड़े तो उसे भी स्वीकार करना चाहिये, परंतु जिस आज्ञाके पालनसे आज्ञा देनेवाले माता-पिताका भी अनिष्ट होता हो, उस आज्ञाको उनके हितके लिये नहीं मानना चाहिये। चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदिकी आज्ञासे उनका अवश्य ही अनिष्ट होगा, क्योंकि ये बड़े पाप हैं और इनके करवानेवाले वे बनेंगे। ऐसी अवस्थामें उनकी आज्ञा न मानकर उन्हें विनयके साथ समझाना चाहिये और श्रीभगवान्‌से उनकी बुद्धि शुद्ध करनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा करते हुए भी न तो किसीके प्रति द्वेष करना चाहिये और न 'मैं श्रेष्ठ हूँ और ये निकृष्ट हैं' इस प्रकार अपनेमें श्रेष्ठताका अभिमान और उनमें हेय-बुद्धि ही करनी चाहिये।

(३) यद्यपि संसारके नश्वर भोगोंकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना उच्चकोटिकी भक्ति नहीं है, तथापि विश्वासपूर्वक यदि ऐसा किया जाय तो कोई बुरी बात भी नहीं है, वह भी भक्ति ही है, अवश्य ही सकाम होनेसे उसका स्तर नीचा है। आपको भगवान्‌में विश्वास करना चाहिये और यह समझना चाहिये कि 'भगवान् नित्य सभी स्थितियोंमें मेरे साथ हैं, वे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वेश्वर होते हुए भी मेरे परम आत्मीय हैं। उनकी कृपा तथा प्रेमसे मैं सराबोर हूँ। मेरे ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, भीतर-बाहर सर्वत्र उनकी कृपा भरी हुई है। एक क्षणके लिये भी मैं कभी उनकी कृपासे वञ्चित नहीं होता। वे कृपामय हैं। उनका श्रीविग्रह कृपासे ही बना है। अतएव वे किसीपर भी कभी अकृपा नहीं कर सकते। वे मेरी प्रत्येक आवश्यकताको जानते हैं और उनमें जो उचित होंगी, उन्हें वे अवश्य ही पूरा करेंगे।' यों उनकी कृपापर विश्वास करके उनके नामका जप करते रहिये। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा करनेपर आपको अवश्य ही शान्ति मिलेगी। यही शान्तिका अचूक साधन है। भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

'जो मुझको समस्त यज्ञतपोंका भोक्ता, सर्वलोक-महेश्वर और समस्त प्राणियोंका (बिना किसी भेदभावके) सुहृद् जान लेता है, वह परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

(८)

उत्कट इच्छासे ही भगवत्प्राप्ति होती है

सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि भगवत्प्राप्तिका सबसे प्रथम और परम

आवश्यक साधन है भगवत्प्राप्तिकी उत्कट इच्छा—ऐसी इच्छा कि जैसे प्याससे मरते हुए मनुष्यको जलकी होती है। इस प्रकारकी तीव्र और अनिवार्य आवश्यकता उत्पन्न हो जानेपर—जैसे प्यासेको जलका अनन्य चिन्तन होता है और जल मिलनेमें जितनी ही देर होती है, उतनी ही उनकी व्याकुलता बढ़ती है, वैसे ही भगवान्‌का अनन्य चिन्तन होगा और भगवान्‌के लिये परम व्याकुलता होगी। इससे सहज ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। याद रखना चाहिये, भगवान् किसी कर्मके फलरूपमें नहीं प्राप्त होते, वे तो प्रबल और उत्कट इच्छा होनेपर ही मिलते हैं। ऐसी इच्छा होनेपर अपने-आप ही सारे कर्म उनके अनुकूल हो जाते हैं और उसकी प्रत्येक चेष्टा भक्ति बन जाती है। फिर वह यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रीय और खाना-पीना, सोना-उठना, चलना-फिरना, कमाना-खोना आदि लौकिक—जो कुछ भी करता है, सब स्वाभाविक ही भगवान्‌के लिये करता है। क्योंकि भगवान् ही उसके परम आश्रय, परम गति और परम प्रियतम होते हैं। उसकी सारी आसक्ति, ममता और प्रीति सब जगहसे सिमटकर एकमात्र अपने प्राण-प्राण श्रीभगवान्‌के प्रति ही हो जाती है। वह अनवरत उन्हींका स्मरण करता रहता है। भगवान् जब इस प्रकार उसकी व्याकुल इच्छाको देखते हैं, तब सहज ही आकर्षित होकर उसके सामने प्रकट हो जाते हैं और उसे अपने अङ्कमें लेकर अपने हृदयसे लगाकर सदाके लिये निहाल कर देते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'जो मनुष्य अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हो जाता हूँ, वह मुझे सहजहीमें प्राप्त कर लेता है।'

आपने लिखा कि 'मैं अपने जीवनका प्रत्येक कार्य भगवान्‌का समझकर ही करूँ—ऐसा क्योंकर हो सकता है?' इसके उत्तरमें पतिव्रता पत्नीका उदाहरण हमारे सामने है। वह पतिके चरणोंमें आत्मनिवेदन कर अपने पृथक् अस्तित्वको और अपनी पृथक् आवश्यकताको सर्वथा मिटा देती है एवं जीवनभर जो कुछ करती है, सब पति-सुखके लिये ही करती है। इसी प्रकार भगवान्‌के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देनेपर सहज ही उसका प्रत्येक कार्य भगवान्‌के लिये ही होता है। उसका कोई पृथक् प्रयोजन ही नहीं रह जाता। वह जीता है भगवान्‌के लिये और मरता है भगवान्‌के लिये। वह अपने प्रत्येक श्वासमें, प्रत्येक चेष्टासे केवल भगवत्कार्य ही करता है। ऐसे आत्म-समर्पित भक्तका हृदय और उसका पवित्र शरीर भगवान्‌के निर्बाध लीलाक्षेत्र बन जाते हैं। उनके द्वारा भगवान्‌की ही लीला होती है। ऐसे भगवद्गतप्राण महात्मा ही भगवान्‌के सच्चे संदेशवाहक होते हैं और अपने सहज सदाचरणोंके द्वारा अनायास ही जगत्‌के जीवोंको पवित्र भगवद्धाममें पहुँचानेका पावन प्रयास करते रहते हैं। उनकी मूक शिक्षासे जगत्‌का जैसा कल्याण होता है, वैसा लाखों-करोड़ों भाषणों, लेखों और प्रचार-कार्योंसे कदापि नहीं हो सकता।

आपने अपने लिये आवश्यक कार्य पूछा, सो सबसे बढ़कर आवश्यक कार्य आपके, मेरे तथा प्रत्येक मनुष्यके लिये यही है कि वह मानव-जीवनके परम और चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिको समझे और सावधानीके साथ तत्पर होकर उसीकी साधनामें संलग्न हो जाय।

साधन-सर्वस्व

(लेखक—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम')

एक ओर विषय-समूहकी उत्तालतरङ्गोंसे युक्त भोगसागर और इसके दूसरी ओर स्थिर शान्त परम पुरुष ज्योतिर्मय ब्रह्म। एक ओर अनेक कामनावासनावासित चञ्चल मन और काम-क्रोधादि उसकी सेना तथा दूसरी ओर कूटस्थविहारी आनन्दघन शान्त आत्मा। ये दोनों चञ्चल और शान्तभाव बाहर तो संसारमें तथा अंदर अपने मानसमन्दिरमें सदासे विराज रहे हैं। आत्मा सच्चिदानन्दघन अर्थात् शान्त एवं प्रकाशस्वरूप चेतन तथा आनन्दमय और अविनाशी है और इसके विपरीत सब जड, दुःखमय और विनश्वर है। इधर संसारमें बाहर—

पुरइन सघन ओट जल बेगि न पाइय मर्म।
मायाच्छन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म॥

और उधर—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥
ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। .... ॥

यह अंदरकी दशा है। भगवती श्रुति कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। (कठ० २।१।१)

अर्थात् स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है जिससे कि जीव बाह्य विषयोंको ही देखता है, अन्तरात्माको नहीं। यही कारण है कि इन्द्रियजन्य भौतिक सुखको ही सुख मानकर उसके ही प्रयत्नमें लगा हुआ है और उसके भोगमें ही सुख है ऐसा उसको विश्वास हो गया है। परंतु वास्तवमें वह भ्रममें ही है; क्योंकि सुख या आनन्द आत्माके अतिरिक्त और कहीं है ही नहीं। यह वैषयिक सुख भी आत्माके सम्बन्धसे ही प्राप्त होता है—

'अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरै।
निज तालूगत रुधिर पान करि मन सन्तोष धरै॥
(विनय-पत्रिका ९२।४)

जिस पुण्यात्माको वास्तविक सुखकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वह फिर उसके उद्गमस्थानको ही ढूँढ़ता है—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। (कठ० २।१।१)

—जिसने अमृतत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियोंको रोक लिया है—बाह्य विषयोंसे समेट लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्माको देख पाता है। भगवान्‌ने गीतामें भी यही कहा है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २।५८)

अर्थात् जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको समेट लेता है वैसे ही जब पुरुष सब ओरसे इन्द्रियोंके विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंको समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है। योगकी दृष्टिसे यह प्रत्याहार है, क्योंकि इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध न रखकर चित्तके स्वरूप हो जाना ही प्रत्याहार है—

'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।' (योगदर्शन साधनपाद ५४)

अब यहाँपर यह अनुभव होता है कि जब इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर अंदर खींचा जाता है तब मनमें सङ्कल्प-विकल्प अत्यधिक वेगसे उत्पन्न होता है। साधारण स्थितिसे कहीं अधिक वह उछल-कूद करता है और इन्द्रियद्वारोंसे बाहर निकलकर भोग प्राप्त करने (देखने, सुनने) को व्याकुल हो जाता है। ऐसी अवस्थामें विशेष सावधानीकी आवश्यकता है। ऐसे समयमें श्रीगुरुप्रदत्त मन्त्र जप अथवा इष्टमन्त्र जप करनेमें मनको लगा देना चाहिये। मनको मन्त्र-जपका कार्य मिल जानेसे बाह्य विषयसमूहोंकी व्याकुलता धीरे-धीरे छूट जायगी। यदि उस समय और विचार उत्पन्न होने लगें तो विचार करनेकी साधन जो बुद्धि है, उसे मन्त्रके अर्थका विचार करनेमें अथवा मन्त्रप्रतिपादक देवतामें, परमात्माके भावमें लगा देना चाहिये।

'तज्जपस्तदर्थभावनम्।' (योगदर्शन, समाधिपाद २८)

यह योगमार्ग है। भक्तको अपने इष्टके स्वरूपमें चित्त लगाना, ध्यान करना तथा मन्त्र जपना चाहिये। इसमें भेद कोई नहीं है। भक्त रूपकी भावना करता है तथा योगी भाव-की। तात्पर्य यह है कि परमात्मभावनाकी आवश्यकता है।

इस प्रकार भावना करते-करते चित्तको उसी ध्येयमें अर्थात् उपास्य—एकमात्र परमात्मामें सजातीय प्रत्ययप्रवाहपूर्वक लगाकर तदाकार करना चाहिये।

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।' (योगदर्शन, विभूतिपाद २)

उसमें ज्ञानकी एकतानता अर्थात् एकाकार तैलधारावत् अविच्छिन्न वृत्तिका प्रवाह ही ध्यान है, ध्येयसे अतिरिक्त और कोई ज्ञान या सङ्कल्प बीचमें न आने पावे—एकाकार प्रवाह होता रहे, यही ध्यान है। इसके प्रभावसे वृत्ति अन्तर्मुख होगी और तब आत्मानुभव करना चाहिये। उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तिको भी लय करते-करते जब एकमात्र (अस्ति-भाति-प्रियरूप) ज्ञान ही शेष रह जाय और ज्ञान ही नहीं अपितु उस अवस्थाका द्रष्टा, साक्षी जो है, उसीको अपना स्वरूप समझना चाहिये। अन्तमें साक्षी-साक्ष्यभाव भी नहीं रहेगा। इसके लिये ही—

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।'

(कठ० १। ३। १२)

—रूप सूक्ष्म बुद्धि और—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

(कठ० २। ३। १०)

रूप-अनुभवका निर्देश श्रुतिने किया है कि जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनके सहित आत्मामें स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, वह परम गति है। उस अतीन्द्रिय और केवल शुद्ध बुद्धिग्राह्य जो आनन्द है (वहाँपर बुद्धिग्राह्य भी कहना ठीक-ठीक नहीं बनता, केवल लक्ष्य-निर्देशके लिये ही ऐसा कहा जाता है; क्योंकि 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता ३। ४२) ऐसा कहा गया है) उसको अपने आत्मामें स्वयं ही अनुभव करता है तथा उससे बढ़कर और कोई सुख न मानता हुआ भारी-से-भारी दुःखसे भी विचलित न होकर उस आत्यन्तिक आत्म-सुखको ही सर्वोपरि सुख समझकर उसमें ही संतुष्ट रहता है। इसी योगको ही न उकताये हुए चित्तसे करनेकी आज्ञा भगवान्ने (श्रीगीता अध्याय ६ में श्लोक २० से २५ तक) देकर उसका वर्णन किया है। इस योग-सम्बन्धी आत्माकार वृत्तिको—

'अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।

(कठ० २। ३। १३)

—कहकर श्रुतिने जिसके अनुभवका संकेतमात्र किया है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

(ब्रह्मोपनिषद्)

—कहकर जिसे मन-वाणीसे अगोचर कहा है उसका वर्णन वाणीसे नहीं हो सकता, उसका स्वयं अनुभव होता है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्रायण्युपनिषद् ४। ९)

इस प्रकार योगमार्गसे आत्मानुभवरूप उपासना होती है। मूँजके अंदरसे सींकके अनुसन्धानकी भाँति हृदय एवं बुद्धिरूप गुहामें ही आत्मदर्शनानुभूति होती है। भक्तिमार्गमें, सगुण ध्यानमें भी यही बात है—भेद कुछ नहीं है। केवल कहनेमात्रको साधन-भेद है। साध्य-तत्त्व एक ही है। क्योंकि उसमें भी, हृदय-कमलमें भगवान्के रूपका ध्यान करता हुआ सर्व अङ्गोंका ध्यान करके, फिर केवल मुखकमलकी भावना करते हुए भगवान्के शुद्ध स्वरूपमें आरूढ़ होकर और कुछ भी चिन्तन न करे। इस प्रकार तीव्र ध्यानयोगसे वह भक्त भगवान्के शुद्धस्वरूपमें तदाकार हो जाता है और अपनेमें परमात्माको प्राप्त करता है (श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धके १४ वें अध्यायमें इसका स्पष्ट वर्णन है)।

वास्तवमें सब प्रकारसे एक परमात्मा ही उपास्य है और उसकी ही उपासना सब प्रकारसे होती है। तत्त्वदृष्टिसे विचार कीजिये कि श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु, शङ्कर, दुर्गा, सूर्य प्रभृति जितने भी देवोंकी उपासना की जाती है, उन सबके नाम और रूप अलग-अलग हैं। यथा श्रीराम नाम है और 'नीलाम्बुजश्यामल' रूप, 'सशङ्खचक्र' रूप और विष्णुनाम, 'वंशीवाला रूप' श्रीकृष्ण नाम, शङ्कर नाम, शिव नाम, 'कर्पूरगौरम्' रूप आदि-आदि। अतः जितने ही नाम हैं उतने ही रूप हैं। इस प्रकार अनेक नाम तथा अनेक रूप हैं, परंतु परमात्मा तो एक ही है और वह सबका है, सबमें है तथा सर्वत्र है। इसलिये यदि विष्णु-उपासक और शिव-उपासक अथवा अन्य-अन्य उपासक अपने ही इष्टदेव विष्णु, शिव प्रभृतिके नामरूपमात्रको ही परमात्मा मानें, औरको नहीं, तब इस प्रकार अनेक नाम-रूपतासे, नामरूपकी परिच्छेदतासे ही अज्ञानके कारण अनेक परमात्माकी कल्पना हो जाती। वास्तविकता तो यह है कि उस नाम-रूपका जो अधिष्ठान-तत्त्व है, वह सत्-चिदानन्दघन तत्त्व एक ही है और वही विष्णुमें है, वही शिवमें है, वही श्रीराममें है, वही श्रीकृष्णमें है

तथा वही अन्यमें है । एक ही चिदानन्दघनकी सत्ता अधिष्ठानरूपसे सबमें खेल रही है और उसीका चिदानन्द-विग्रह घनीभूत होकर राम-कृष्ण-शिव प्रभृति देवोंके रूपमें प्रकट हुआ है और उसीके अलग-अलग नाम हैं । अधिकारी-भेदसे जिस देवताके चरित्रमें भक्तकी श्रद्धा है उसी देवताकी उपासनाका विधान उस भक्तके लिये किया गया है जिससे उसमें उसका प्रेमभाव बना रहे । सबका अधिष्ठान तो एक ही वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है । परंतु ध्यान रहे कि उन सबका विग्रह साधारण संसारी पुरुषोंकी भाँति नहीं है । अपितु दिव्य है 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४।९) और वे माया एवं कर्मके वशमें भी नहीं होते, माया उनके वशमें होती है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।'

(योगदर्शन १ । २४)

साधारण जीवोंकी भाँति वे क्लेश कर्म आदिके वशमें न होकर उससे असंश्लिष्ट रहते हैं । वे भक्तानुग्रहकाम्यया ही स्वेच्छावश सगुणरूपसे प्रादुर्भूत होकर लीला करते हैं, केवल नाम-रूपमें ही कहनेका भेद रहता है । इसीलिये 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी' गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है, अतः भक्तको भी उसी परमात्माकी ही प्राप्ति होती है । वेदान्त-विचारसे भी 'अविद्योपाधिको जीवः', 'मायोपाधिक ईश्वरः', 'अविद्यामायारहितं तद् ब्रह्म'—इस दृष्टिसे अविद्या और मायाकी उपाधि निकाल देनेसे परब्रह्म परमात्मा ही शेष रहता है ।

मायाविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥

(पञ्चदशी, तत्त्वविवेक ४८)

इस भाँति अपने अन्तःकरणका भी अधिष्ठान वही तत्त्व है जो सबका अधिष्ठान है और सबमें है । 'तत्त्वमसि' महा-वाक्यसे श्रुतिने इसका लक्ष्य कराया है और—

'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा । बारि बीचि इव गावहिं बेदा ॥'

इसीका अनुवाद है । अतः अपने हृदय-गुहामें अपना ही अनुसन्धान करना अपने ही अधिष्ठानका अनुभव करना उसी तत्त्वकी ही उपलब्धि करना है जो सबमें है ।

'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्'

(मुण्डक० ३ । १ । ७)

'हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो'

(श्वेताश्वतर० ३ । १३)

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्'

(कठ० २ । २ । १२)

—कहकर श्रुतियोंने घोषणा की है कि अपनी बुद्धिमें स्थित, हृदयगुहामें स्थित, अपनेमें ही स्थित उस ज्ञानस्वरूप अपने आत्माको जो लोग अनुभव करते हैं, उन्हींको अक्षय नित्य शान्ति मिलती है औरोंको नहीं ।

अतः जिस किसी भी भाँतिसे हो—चाहे ज्ञानयोगसे, चाहे भक्तियोगसे अथवा किसी योगसे हो, उस तत्त्वकी ही प्राप्ति करनी चाहिये । और इसके लिये इन्द्रिय-निग्रह, आत्म-संयम तथा विचारकी परमावश्यकता है । विना इन्द्रिय-निग्रहके केवल मौखिकज्ञानसे साधनशून्य रहकर इसे प्राप्त करना असम्भव है; क्योंकि—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(कठ० १ । २ । २४)

अर्थात् जो पाप-कर्मसे नहीं निवृत्त हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं, जिसका चित्त असमाहित है, वह इसे आत्मज्ञानद्वारा (प्रज्ञाद्वारा) नहीं प्राप्त कर सकता । अतः इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक आसनपर बैठकर अन्तर्मुखी वृत्तिद्वारा समाहित होकर आत्मचिन्तन करना चाहिये तथा व्यवहारमें शुद्ध चरित्रमय जीवन व्यतीत करके, विषयभोग-लोलुपता छोड़कर आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहिये । तभी अन्तःकरण शुद्ध होगा और आत्मस्थितिकी योग्यता प्राप्त होगी और तब संसारके सारे सुख उस आत्मजन्य सुखके आगे तुच्छ प्रतीत होंगे ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

(केन० २ । ५)

'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ॥'

(योगियाज्ञवल्क्य)

उसीको तत्त्वज्ञानी लोग और ब्रह्मयोगी लोग परमात्मा तथा भक्त लोग भगवान् कहते हैं ।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

(श्रीमद्भा० १ । २ । ११)

वही एकमात्र ध्येय, ज्ञेय एवं परमाराध्य है ।

साधु कौन हैं ?

यथालब्धोऽपि सन्तुष्टः समचित्तो जितेन्द्रियः ।
हरिपादाश्रयो लोके विप्रः साधुरनिन्दकः ॥
निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहङ्कारवर्जितः ।
निरपेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते ॥
लोभमोहमदक्रोधकामादिरहितः सुखी ।
कृष्णाङ्घ्रिशरणः साधुः सहिष्णुः समदर्शनः ॥
समचित्तो मुनिः पूतो गोविन्दचरणाश्रयः ।
सर्वभूतदयः कार्ष्णो विवेकी साधुरुत्तमः ॥
कृष्णार्पितप्राणशरीरबुद्धिचित्तेन्द्रियस्त्रीसुतसम्पदादिः ।
आसक्तचित्तः श्रवणादिभक्तिर्यस्येह साधुः सततं हरेर्यः ॥
कृष्णाश्रयः कृष्णकथानुरक्तः कृष्णेष्टमन्त्रस्मृतिपूजनीयः ।
कृष्णानिशध्यानमनास्त्वनन्यो यो वै स साधुर्मुनिवर्य कार्ष्णः ॥

दैवेच्छासे जो कुछ मिल जाय, उसीपर जो संतोष करता है, जिसके चित्तमें समता है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है, जो भगवान्‌के चरणोंकी शरण लेकर रहता है तथा संसारमें किसीकी भी निन्दा नहीं करता, वही ब्राह्मण 'साधु' माना गया है। जिसके मनमें किसीके प्रति वैर-भाव नहीं है, जो सबके प्रति दयालु है, जिसका मन शान्त है, जो दम्भ और अहंकारसे रहित है तथा जो किसीसे कुछ अपेक्षा नहीं रखता, वह वीतराग मुनि इस संसारमें 'साधु' कहा जाता है। जो लोभ, मोह, मद, क्रोध और काम आदिके प्रभावमें नहीं आता, भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी शरण लेकर सुखसे रहता है, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंको धैर्यपूर्वक सहन करता तथा सबमें समान दृष्टि रखता है, वही पुरुष 'साधु' माना गया है। जिसके चित्तमें सब जीवोंके प्रति समान भाव है, जो मुनि (भगवत्तत्त्वका मनन करनेवाला) और बाहर-भीतरसे पवित्र है, जिसने भगवान् गोविन्दके चरणोंका आश्रय ले रखा है, जो सब जीवोंपर दया करता और सत्-असत्‌का विवेक रखता है, वह श्रीकृष्ण-भक्त पुरुष ही सर्वोत्तम साधु है। जिसने अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धिको तथा स्त्री, पुत्र एवं सम्पत्ति आदिको भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर दिया है, जिसका मन केवल भगवान्‌में ही आसक्त है, भगवान्‌की महिमा एवं लीला आदिके श्रवण-कीर्तन आदिमें जिसकी भक्ति है तथा जो सदा-सर्वदा भगवान्‌का ही होकर रहता है; वही साधु है। मुनिश्रेष्ठ ! जो श्रीकृष्णके शरणागत, श्रीकृष्णकी कथामें अनुरक्त और श्रीकृष्णके ही अभीष्ट मन्त्रके जप-स्मरण आदिके कारण पूजनीय है, जिसका मन निरन्तर श्रीकृष्णके ध्यानमें ही संलग्न है और जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त है; वही 'साधु' मानने योग्य है।

क्रोधका बुरा परिणाम

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधोऽमितमुखो रिपुः ।
क्रोधोऽसिः सुमहातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ॥
तपते यतते चैव यच्च दानं प्रयच्छति ।
क्रोधेन सर्वं हरति तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ॥

यत् क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्यं
यद्वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य ।
प्राप्नोति नैव किमपीह फलं हि लोके
मोघं फलं भवति तस्य हि कोपनस्य ॥
(वामनपु० ४३ । ८९)

सञ्चितस्यापि महतो वत्स क्लेशेन मानवैः ।
यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः ॥
(विष्णुपुराण १ । १ । २२)

क्रोध प्राणनाशक शत्रु है; क्रोध अपरिमित मुखवाला वैरी है; क्रोध बड़ी तेजधार तलवार है, क्रोध सब कुछ हर लेता है; मनुष्य जो तप, संयम और दान आदि करता है, उस सबको वह क्रोधके कारण नष्ट कर डालता है। अतएव क्रोधका त्याग करना चाहिये ।

क्रोधी मनुष्य जो कुछ पूजन करता है, नित्य जो दान करता है, जो तप करता है और जो होम करता है, उसका उसे इस लोकमें कोई फल नहीं मिलता । उस क्रोधीके सभी फल वृथा होते हैं ।

वत्स ! मनुष्यके द्वारा बहुत क्लेशसे सञ्चित किये हुए यश और तपको भी क्रोध सर्वथा विनाश कर डालता है ।